

जौन संरुवुकर सुखी संसुकर



शुसनशुी मुनि सुखललल

जैन संस्कार : सुखी संसार

शासनश्री मुनि सुखलाल



जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

प्रकाशक : जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं- ३४१३०६

जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : सितम्बर २०१४

मूल्य : ८०/- (अस्सी रुपये मात्र)

मुद्रक : श्री वर्धमान प्रेस, नवीन शहादरा, नई दिल्ली

भूमिका

सन् १९८८ में मैं आदर्शपुरम् चातुर्मास के बाद बीदासर में आचार्यश्री तुलसी के श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। उस समय 'जैन भारती' पत्रिका श्रीचंदजी रामपुरिया के सम्पादन तथा मुमुक्षु शांता बहन के सह सम्पादन में एक नई अर्थपूर्ण दिशा में प्रकाशित हो रही थी। उसी समय शांता बहन ने मुझे जैन भारती में लिखने का आमंत्रण दिया। मैंने कहा—मैं तो जैन भारती में पहले भी लिखता रहा हूँ तथा अब भी यथासमय लिखने का प्रयास करूँगा। उन्होंने कहा—मैं एक-दो लेख लिखने की बात नहीं कह रही, मैं तो चाहती हूँ कि आप स्थायी स्तम्भ के रूप में अपना लेखन हमें प्रदान करें। हम लोग स्थायी स्तम्भ के बारे में विचार कर रहे थे तो 'जैन संस्कार' का विषय सामने आया। हम दोनों को यह विषय अनुकूल लगा। जैन भारती कुछ ऐसा मसाला चाहती थी जो जैन संस्कारों से जुड़ा हुआ हो तथा मुझे भी लगा कि प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों से सामयिक संदर्भ में काफी कुछ लिखा जा सकता है। तत्काल जैन भारती में 'जैन-संस्कार : सब जगह' नाम से एक स्तम्भ शुरू हो गया। मैं नियमित रूप से अपना लेखन देने लगा। बीच-बीच में जब भी मुझे आलस्य घेरता या अन्य व्यस्तता आ जाती तो जैन भारती मुझे सचेत करती रही और लेखन का क्रम आगे बढ़ता गया।

संयोग से अगला वर्ष योगक्षेम वर्ष का था। मुझे वर्ष भर लाडनू रहने का अवसर मिला। जैन भारती का कार्यालय वहीं था। अतः जैन भारती सहज मेरे सामने रहती। फिर अगला वर्ष अणुव्रत वर्ष के रूप में सामने आ गया। मुझे भी फिर आचार्यवर की सेवा का अवसर प्राप्त हो गया। जैन भारती का आमंत्रण सदा मेरे चित्त के सामने रहता। इसलिए मेरे सामने जो सहज रूप जो घटना-बिम्ब आते रहे उन्हें मैं शब्दों में प्रतिबिम्बित करता गया। आदमी के सामने जब कोई लक्ष्य होता है तो सामने से गुजरने वाली हर छोटी-मोटी बात उसके साथ जुड़ जाती है। डेढ़ वर्ष तक निरन्तर जब मैं इस स्थायी स्तम्भ से जुड़ा रहा तो मेरे पास काफी सामग्री जुड़ गई। पर मैं उसे अपने पास संकलित नहीं कर पाया। जैन भारती में ही वह सामग्री सुरक्षित रही। पिछले वर्ष दिल्ली में मेरे सहयोगी मुनि

भव्यकुमारजी का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। इन्होंने जैन भारती के पुराने अंक ढूँढे और उन्हें संग्रहित कर जब मुझे दिखाया तो मुझे लगा जैन संस्कार सदा प्रासंगिक रहते हैं। उस समय जब मैंने ये आलेख लिखे थे उस समय तो वे प्रासंगिक थे ही आज भी उनकी प्रासंगिकता कायम है। वैज्ञानिक उपलब्धियों के इस युग में भी महावीर बासी-पुराने नहीं हुए हैं बल्कि आज उनकी आवश्यकता और ज्यादा है।

महावीर एक चैत्य पुरुष हैं। उनकी सारी साधना का नाभिक अध्यात्म था। अध्यात्म एक अनुभव सत्ता है। इसलिए वह सम्प्रदाय से ऊपर है। अनेक महापुरुषों ने अपनी आत्मानुभूतियों उसे वचन-गोचर किया। पर महावीर इस दृष्टि से काफी ऊँचाई पर खड़े प्रतीत होते हैं। उन्होंने जो कुछ कहा वह आत्म दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था ही पर प्रत्यक्ष जीवन से भी जुड़ा हुआ था। महावीर विज्ञान के विरोध में नहीं खड़े हैं। वे विज्ञान के लिए नये क्षितिजों की ओर संकेत करते हैं। इसीलिए वे जहाँ एक ओर भौतिक समस्याओं के समाधायक लगते हैं तो दूसरी ओर विज्ञान के लिए भी प्रेरणादीप प्रतीत होते हैं। सचमुच में महावीर त्रैकालिक सत्य के प्रवक्ता हैं। वे ढाई हजार वर्ष पहले जितने सामयिक प्रतीत होते थे उतने ही सामयिक आज हैं। भविष्य में भी उनकी सामयिकता खत्म नहीं होगी। यद्यपि आज अनात्मवाद का अंधेरा गहन है, इसीलिए दुनियां के सामने अनेक समस्याएं हैं। जैन लोग भी जाने-अनजाने उन्हें भूलते जा रहे हैं। पर इससे समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर मैंने प्रस्तुत पुस्तक की संरचना की है। इस संदर्भ में मुझे ऐसा लगा कि जैन संस्कार केवल जैन लोगों के लिए ही उपयोगी नहीं है अपितु सारे संसार के सुख के संवाहक बन सकते हैं। इसीलिए मैंने इसका नाम भी 'जैन संस्कार : सुखी संसार' रख दिया है।

आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ तो मेरे लिखने के प्रेरणास्रोत हैं ही आचार्य महाश्रमणजी ने मेरे लेखन के प्रति सहानुभूति प्रकट की। मुनि भव्यकुमारजी ने मुनि मोहजीतकुमारजी की प्रेरणा से पूरी लगन से इस संकलन में योगदान किया है। भविष्य में भी उनका सहयोग उनके स्वयं के लिए तथा मेरे लिए भी शुभंकर बने यही कामना है।

अध्यात्म साधना केन्द्र
१५ अक्टूबर २०१४

मुनि सुखलाल

अनुक्रम (Index)

| | पृ. सं. |
|--|---------|
| 1. शिक्षा संस्थान और संस्कार | 1 |
| 2. खेल और ध्यान | 6 |
| 3. संस्कार और सम्पर्क सूत्र | 11 |
| 4. संस्कार-केन्द्रों की आवश्यकता | 15 |
| 5. सन्त दर्शन : शुभ संस्कार | 19 |
| 6. संस्कार और अन्ध विश्वास | 22 |
| 7. मृत्यु और अन्धरूढ़ियां | 25 |
| 8. जैन संस्कार और हैप्पी बर्थ डे | 28 |
| 9. विवाह-प्रथा और परम्पराएं | 32 |
| 10. जैन संस्कार और पर्यावरण सुरक्षा | 36 |
| 11. उपभोक्तावाद का मानक क्या ? | 40 |
| 12. नशे का फैलाव कितना घातक | 43 |
| 13. मांसाहार वर्जन : जैनत्व की पहचान | 47 |
| 14. उपभोक्तावाद या व्रतवाद | 51 |
| 15. अल्प परिग्रह बनाम महापरिग्रह | 55 |
| 16. जैन संस्कार : स्वदार संतोष व्रत | 60 |
| 17. सामायिक : तनाव-मुक्ति का उपाय | 64 |
| 18. क्षमा का संस्कार : मैत्री का विस्तार | 68 |

(6)

| | | |
|-----|--------------------------------|-----|
| 19. | अनर्थ हिंसा से बचें | 72 |
| 20. | नियमन बनाम संयमन | 76 |
| 21. | जीवन विकास के तीन सूत्र | 79 |
| 22. | धर्म का मार्ग | 82 |
| 23. | स्पष्टतापूर्ण-व्यवहार | 85 |
| 24. | जीवन का सत्य | 89 |
| 25. | आवश्यक-रेखा | 93 |
| 26. | राग और विराग में संतुलन आवश्यक | 96 |
| 27. | संस्कार-निर्माण की आवश्यकता | 100 |
| 28. | शिक्षा और संस्कृति | 103 |

1. शिक्षा संस्थान और संस्कार

बम्बई के एक नवोदित उद्योगपति ने एक बार मुझे एक घटना सुनाई। एक बार मेरा ड्राईवर घर पर नहीं था। पोते को स्कूल पहुंचाना था। मैंने सोचा मैं स्वयं ही उसे पहुंचा आऊं। सुबह-सुबह का समय था। मैं अपने धोती कुर्ते की घरेलू ड्रेस में था। उसी ड्रेस में गाड़ी ले जाने के लिए तैयार हुआ तो पोता बोला, “दादा! प्लीज तुम मेरी स्कूल में गाड़ी से नहीं उतरो तो मैं तुम्हारे साथ स्कूल जा सकता हूँ। अन्यथा नहीं। मेरे दोस्त तुम्हारा धोती कुर्ता देखकर मजाक करेंगे।”

यह केवल एक उदाहरण ही नहीं है। ऐसी अनेक बातें हैं आज की स्कूली शिक्षा की। सचमुच में वे स्कूल में एक ऐसे वातावरण में रहते हैं, जो उनके पारिवारिक, पारम्परिक संस्कारों से काफी दूर होता है। असल में तो जो शिक्षा वहां मिलती है, वह हमारे जैन संस्कारों से कहां तक अनुकूल बैठती है, यह सोचने का विषय है। निश्चय ही वे लड़के जयजिनेन्द्र नहीं कहेंगे। गुडमोर्निंग, गुडनाइट या टा टा ही कहेंगे। निश्चय ही उनकी प्रार्थना णमो अरहंताणं नहीं होगी अपितु वे जब साधु-संतों के दर्शन करेंगे तो उनको तिक्खुत्तो बोलकर, पंचांग नमस्कार नहीं करेंगे अपितु अपने हृदय पर हाथ रखकर, क्रास का चिन्ह बनाकर नमस्ते बोलेंगे। उन्हें जैन धर्म की मोटी-मोटी बातें भी ज्ञात नहीं होगी, पर अन्य अनेक संदर्भ उनके कंठों पर नाचते रहेंगे। वे महावीर और त्रिशला की भाषा नहीं बोलेंगे अपितु अन्य देवी-देवताओं को ही बात-बात में उद्धृत करेंगे। भले ही हमारे आधुनिक लोग यह समझते हों कि तथाकथित मंहगे स्कूलों में पढ़ने-लिखने वाले बच्चे होशियार होते हैं, पर इसमें कोई शक नहीं है कि वहां के उन्मुक्त वातावरण में उनके आचार-विचार जिस ढांचे में ढलते हैं, वे काफी अंशों में

जैनत्व से मेल नहीं खाते। वे अपने मां-बाप की सीख की अपेक्षा अपनी मैडम की बात को ज्यादा महत्त्व देंगे।

अंग्रेजीयत से प्रभावित परिवारों से आने वाले बच्चे प्रायः शुद्ध शाकाहारी नहीं होते। उनके सहपाठियों को भी अशाकाहारी भोजन का चस्का लग जाना सहज सम्भव है। एक महंगे अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने वाले एक जैन परिवार की बच्ची अपनी मां से कहती है-मां! मेरी मैडम ने कहा है कि तुम कमजोर बहुत हो, अतः अंडे खाओ। इसलिए मुझे अंडे मंगवा दो। मां उसकी बात सुनकर सन्न रह गई। बोली- बेटा! अंडा तो बहुत खराब होता है। हम ऐसा भोजन नहीं करते। बच्ची ने तत्काल कहा-नहीं, अंडे खराब नहीं होते। मेरी क्लासमेट रोज अंडे खाती है। वह शरीर से मेरे से ज्यादा तगड़ी है। एक बार उसने मुझे भी आमलेट खिलाया था। वह बहुत स्वादिष्ट था।

ऐसा एक लड़की के साथ नहीं बहुत बच्चों के साथ होता है। हो सकता है कुछ लोगों को ऊपर बताई गई बातें अति की सीमा को छूने वाली लगे। पर बच्चों पर अपने वातावरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

कुछ अभिभावक यदि सजग होते हैं तो वे अपने बच्चों के सुसंस्कार की रक्षा भी कर सकते हैं। पर कम-से-कम उनके मन में मांसाहार के प्रति घृणा तो मिट ही जाती है। कहां तो एक ऐसा जमाना था जब जैन परिवारों में प्याज-लहसुन से भी परहेज किया जाता था। कहां आज यह जमाना आ गया है कि अनेक परिवारों में अखाद्य भोजन का भी परहेज नहीं रहता। अच्छे स्टेण्डर्ड के एक स्कूल में पढ़ने वाली बहुत सारी लड़कियां यदि स्वयं अंडे नहीं भी खाती है तो भी जब उनके मन से घृणा निकल जाती है तो वे अपने बच्चों को तो कम ही रोक पा सकेंगी।

यह सही है कि अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे आधुनिक एटिकेट्स सीख जाते हैं। उनके बोलने, चलने, वेशभूषा, व्यवहार आदि में भी एक आकर्षण होता है। इसलिए बहुत सारे अभिभावक न केवल अपने बच्चों को वहां पढ़ने भेजते हैं, अपितु वे यदा-कदा बड़े गौरव से यह भी कहते हैं कि उनके बच्चे अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते हैं।

वे जब अपने बच्चों को फड़केदार इंग्लिश में बोलते देखते हैं तो बड़े खुश होते हैं। वहां की ऊंची फीस अभिभावकों को अपने-आपको आभिजात्य प्रमाणित करने की एक तर्क होती है। यह सही है कि कॉन्वेन्ट में पढ़ने वाले लड़के पढ़ाई में भी होशियार होते हैं। आज जितने आई. ए. एस. लोग हैं उनमें से बहुतों ने अपनी शिक्षा यात्रा कॉन्वेन्ट से ही शुरू की है। पर सबको इस बात का भी बोध रहना चाहिए कि आजकल अच्छे स्टैंडर्ड की अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ने वाले लड़के जितने नशाग्रस्त होते हैं उतने दूसरी स्कूलों के नहीं होते। नई सर्वे से यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो चुका है कि वहां के वातावरण की खुलावट भी भारतीय जीवन पद्धति के माफिक नहीं पड़ती।

इस स्थिति का सबसे अच्छा हल तो यही है कि जैन समाज जैन संस्कृति को समझे। व्यापार में पूर्ण रूप से दक्ष जैन समाज क्या ऐसे स्कूलों का संचालन नहीं कर सकता, जहां उत्तम शिक्षा के साथ-ही-साथ अपने संस्कारों को भी सुरक्षित रख सके। निश्चय ही यह पूरे जैन समाज के पौरुष को एक चुनौती है। हो सकता है कुछ लोग इसे एक आध्यात्मिक सेवा न भी स्वीकार करे। पर अपने सामाजिक दायित्व को निभाने के लिए भी क्या यह आवश्यक नहीं है कि जैन लोग समय रहते जागे। जो समाज इस दृष्टि से संवेदनशील नहीं बनेंगे, वे निश्चय ही प्रगति की दौड़ में पिछड़ जायेंगे। किसी भी समाज के विकास में उच्च शिक्षा का बहुत बड़ा महत्व है। जैन समाज मुख्य रूप से व्यापारी है। इसलिए उसकी अधिकांश शक्ति व्यापार में ही खप जाती है। कम-से-कम बड़े शहरों-नगरों या जैन बहुल आबादी वाले क्षेत्रों में तो यह संभव है ही। मुसलमान यदि हर गांव में मंदरसे खोल सकते हैं तो जैन क्यों नहीं संस्कार शालाएं खोल सकते?

उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ है। विरला ही जैन व्यक्ति भिखारी मिलेगा। अपराध कर्मियों में भी जैन लोग कम मिलेंगे। डॉक्टर, वकील, इंजिनियरिंग आदि शिक्षाओं में भी वे निपुण होते हैं। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि जैन समाज के बच्चे उच्च शिक्षण में कम ही जाते हैं। इससे प्रशासनिक स्तर पर वे पिछड़ जाते हैं।

यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि उच्च शिक्षा प्राप्त लोग केवल सफल जीवन ही जीते हैं। यह भी एक विवाद का विषय है कि किन लोगों को कितनी शिक्षा दी जाए। आज पूरा शिक्षा जगत् इस समस्या से जूझ रहा है। पर फिर भी जैसे किसी पुराने शिक्षाशास्त्री ने कहा है “माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः” पर इसके साथ-साथ हमें यह भी सोचना पड़ेगा कि शिक्षा कैसे छात्र के जीवन में सुसंस्कारों को आरोपित कर सके। ईसाइयों ने ईसायित के प्रचार के लिए जमकर कान्वेंट स्कूलों का प्रयोग किया।

शिक्षा से ही जुड़ा हुआ एक विषय है- होस्टल। शहरों की भीड़भाड़ में रहने वाला तथा राजकीय सेवा में संलग्न लोगों के बच्चों के लिए होस्टल बहुत सुविधाजनक हो सकते हैं। आजकल राजकीय होस्टलों की जो दुर्दशा है, वह किसी से छिपी नहीं है। आये दिन वहां भांति-भांति के झगड़े चलते हैं। कुछ समृद्ध परिवारों के बच्चे तो वर्षों तक फैल होते रह कर इसलिए ही होस्टलों में डटे रहते हैं जिससे वे अपनी दादागिरी कायम रख सकें। सचमुच उन दादाओं का आतंक बहुत जबरदस्त होता है। छात्रावास आजकल राजनीति के अड्डे भी बन रहे हैं। कुछ लड़के होस्टल में इसलिए रहते हैं कि उन्हें पढ़ाई के लिए समय मिल सके पर असलियत यह है कि वहां आजकल राजनीति इस कदर चलती है कि पढ़ाई गौण हो जाती है। दिल्ली विश्व विद्यालय के एक सर्वे के अनुसार होस्टल में रहने वाले छात्र नशे की दवाईयां लेते हैं। छात्राओं में भी यह अनुपात बढ़ता जा रहा है। शराब तो आज एक आम बात हो गई है।

एक बार मैं एक ऐसे शहर में चातुर्मास कर रहा था जिसमें मेडिकल कॉलेज भी था। वे सभी छात्र छात्रावास में ही रहते थे। कुछ लड़कों से मेरा भी संपर्क था। अतः वे अक्सर आ जाते। मैंने उनसे पूछा- तुम्हारे छात्रावास में कितने जैन लड़के हैं? मैंने यह भी पूछा कि उनमें से कोई शराब तो नहीं पीता? उन्होंने बताया कि कम से कम ७५ प्रतिशत लड़के शराब पीते हैं। हो सकता है यह संख्या कुछ कम-अधिक भी हो सकती है पर आजकल होस्टलों के आजाद वातावरण में लड़के अपने पर संयम रख सकें, यह

बहुत ही दुष्कर बात है। डॉक्टर तो यह भी जानते हैं कि शराब से बहुत नुकसान होता है। पर फिर भी वहां एक ऐसा उन्मुक्त वातावरण रहता है, जिसमें नहीं बहने वाले लोग बहुत ही कम होते हैं। मैं यह जो बात बता रहा हूँ उसका उद्देश्य यह नहीं है कि होस्टलों के प्रति मेरा दृष्टिकोण नकारात्मक है। मैंने ऐसे भी होस्टल देखे हैं, जहां शिक्षा का माहौल बहुत अच्छा होता है।

बम्बई में कुछ ऐसे छात्रावास भी हैं, जिन्हें जैन लोग चलाते हैं। सचमुच! वहां का वातावरण इतना अनुशासन पूर्ण रहता है कि वहां पढ़ने वाले लड़के अच्छे संस्कार लेकर निकलते हैं। जिन छात्रावासों की व्यवस्था अच्छी होती है, वे छात्रों के लिए एक वरदान साबित होते हैं।

असल में पुराने जमाने में गुरुकुलों में शिक्षा दी जाती थी, उसका सही सुफल था कि वहां का वातावरण विशुद्ध रहता था। इसलिए वे छात्रों के जीवन निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर पाते थे। आज भी ऐसे छात्रावासों की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। जो अभिभावक अपने नौनिहालों को केवल सरकारी होस्टलों के भरोसे पर छोड़ देते हैं, वे अपने भविष्य के प्रति बहुत सचेत नहीं कहे जा सकते।

देश भर में जैन समाज के हजारों शिक्षा संस्थान हैं। तेरापंथ समाज के भी २५० से ज्यादा विद्यालय हैं। पर उन विद्यालयों में जैनधर्म की कितने संस्कार दिए जाते हैं यह एक ज्वलंत सवाल है।

2. खेल और ध्यान

एक आकर्षक व्यक्तित्व वाला तरुण युवक मेरे पास आया। मैंने देखा- वह वंदना की जैन पारम्परिक-विधि से बहुत परिचित प्रतीत नहीं था, पर उसके मन में श्रद्धा-भाव की कमी भी नहीं लग रही थी। उसने अत्यन्त शालीनता से कहा-महाराज! क्या आप मुझे कुछ समय दे सकते हैं? उसके चेहरे पर झलकती तेजस्विता तथा जिज्ञासा को पढ़कर मैंने कहा- क्यों नहीं? मैं अभी तुम से बात करने के लिए तैयार हूँ। मेरा सकारात्मक उत्तर सुनकर वह बहुत खुश हुआ। न तो मैं उसे जानता था और न वह मुझे जानता था। पर अनायास ही हमारे भाव संवाद बन गए और हम आमने-सामने बैठ गए।

उसका सीधा सवाल था- मैं ध्यान विधि सीखना चाहता हूँ, क्या आप मुझे ध्यान विधि सीखा सकते हैं? एक तरुण की यह जिज्ञासा सुनकर मेरा मन तत्काल अभिनत हो गया। मैं सोचने लगा, अवश्य ही ध्यान-अभियान समाज में अपनी जड़े जमाने में सफल हो रहा है। क्योंकि वह अभियान बहुत दूर तक नहीं चल सकता जो वृद्धों के दुर्बल कंधों पर सवार होता है, और युवकों में पनपने वाला अभियान भी सामयिक बनकर ही रह जाता है। थोड़े दिनों में जब उन्हें अपने परिवार का दायित्व-बोध होता है, वे किनारे हो जाते हैं। पर तरुण किशोर जिस अभियान को पकड़ लेते हैं उसकी जड़े जल्दी से नहीं हिलतीं। वह उनके पोर-पोर में समा जाता है। तरुण किशोरों को पकड़ने की नीति ने ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को एक जीवन्त आन्दोलन बना दिया है, यह सभी मानते हैं। मैं सोचने लगा-हमारे समाज के तरुण किशोर भी ध्यान में रूचि लेने लगे हैं, निश्चय ही यह एक बहुत शुभ संकेत है।

फिर भी उसके अंतःस्थल की थाह पाने के लिए मैंने उससे पूछा- तू कहां रहता है? क्या पढ़ता है? उसने सीमित शब्दों में बताया- मैं कलकत्ते में रहता हूँ तथा ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ता हूँ। उसने बताया कि मैं बास्केटबॉल का नियमित खिलाड़ी हूँ। मैं कई राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भी भाग ले चुका हूँ। सरकार ने मुझे अनेक प्रशिक्षण शिविरों में भी भेजा है।

मैं उसकी खेल और ध्यान की रूचि में एक संतुलन खोजने लगा। निश्चय ही बास्केट बॉल बहुत ही चुस्त खेल है। वह पूरे शरीर का व्यायाम है। उसमें स्वभावतः ही खिलाड़ी के शरीर में लचीलेपन (**Flexibility**) की आवश्यकता रहती है। ध्यान के द्वारा न केवल लचीलेपन की सुरक्षा होती है, अपितु उसमें वृद्धि भी होती है। इसलिए मैंने कहा- यह तो बहुत ही उपयोगी बात है। ध्यान से स्नायविक तनाव तो मिटता ही है, मानसिक ऋजुता भी आती है।

उसने कहा- मैं तो मानसिक तथा आत्मिक दक्षता के लिए ही ध्यान सीखना चाहता हूँ। यद्यपि प्रारंभ में मैंने बास्केट बॉल को स्वास्थ्य की दृष्टि से ही शुरू किया था। पहले मैं बहुत नाटा था। अपनी लम्बाई/**Hight** बढ़ाने के लिए ही मैं इसकी ओर आकृष्ट हुआ था। मेरा वह लक्ष्य पूरा हो गया। अब मेरे शरीर और लम्बाई में अच्छा संतुलन बैठ गया है। अब भी मैं इस खेल को छोड़ना नहीं चाहता।

मुझे लगा इस तरुण की पकड़ काफी गहरी है। खेल की बात करने वाले तो बहुत होते हैं। पर जो उससे ऊपर उठने की बात सोच सकता है उसमें जरूर कुछ दम है। फिर भी मुझे लगा- हमारे समाज का यह तरुण बास्केट बॉल में अपनी छवि (पहचान) बना रहा है। यह समाज के लिए एक गौरव की बात है। मैंने उसे पूछा भी-क्या यहां बीदासर में भी तुम्हारा अपना अभ्यास-क्रम जारी है? उससे अत्यंत निराशा से उत्तर दिया-यहां तो कोई बास्केट बॉल का प्लेग्राउंड भी नहीं है। कलकत्ते में मैं रोज नियमित दो घंटे खेलता हूँ। यही मेरी हॉबी है। मैं ज्यादातर टी.वी. भी नहीं देखता हूँ। कलकत्ते में हमारा एक क्लब भी है। बास्केटबॉल एक अन्तर्राष्ट्रीय खेल है। हमारे देश में क्रिकेट का बहुत शोर है। पर असल में क्रिकेट सब देशों

में नहीं खेला जाता। फुटबाल दुनियां का सबसे व्यापक खेल है। उसके बाद बास्केट बॉल का ही नम्बर है।

मैं सोचने लगा-इस लड़के की खेल और ध्यान में इतनी गहरी रूचि है तो इसके अच्छे परिणाम आ सकते हैं। इसकी ध्यान की गहराई जब इसके खेल को प्रभावित करेगी तो प्रेक्षाध्यान को भी एक नया आयाम मिलेगा। इसलिए मैंने उसको युवाचार्यश्री से परिचित कराना उचित समझा। वह तत्काल मेरे साथ हो गया और हम युवाचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुए। युवाचार्यश्री ने उसकी बात को बहुत दिलचस्पी से सुना और उसको ध्यान की कुछ प्रारंभिक बातें भी बतायी। यह भी कहा- हिन्दुस्तान इतना बड़ा देश है। आबादी के लिहाज से यह दुनियां का दूसरा बड़ा देश है। फिर भी ओलम्पिक खेलों में इस बार एक भी खिलाड़ी को स्वर्णपदक नहीं मिला। कुछ छोटे-छोटे देशों ने भी अनेक स्वर्ण पदक लिए, पर भारत के लिए रजत और कांस्य पदक मिलना भी बड़ा मुश्किल था। दूसरे-दूसरे देशों में इस दृष्टि से अनेक आसन-व्यायाम ही नहीं, ध्यान भी करवाया जाता है। सचमुच यह भारत के लिए बहुत शर्म की बात है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रेक्षाध्यान से शरीर में लचीलापन आता है। बास्केट बॉल में तो यह और भी ज्यादा आवश्यक है। इसमें एकाग्रता की भी आवश्यकता होती है। प्रेक्षा-ध्यान सहज ही इन दोनों बातों की पूर्ति करता है। तुम्हारी ध्यान के प्रति रुचि है, यह हमारे लिए खुशी की बात है। यही मौलिक बात है। पर प्रासंगिक रूप से सहज ही प्रेक्षाध्यान की उपयोगिता का भी यह एक उज्ज्वल पहलू है।

मैं युवाचार्यश्री के इस विवेचन से और भी ज्यादा प्रभावित हुआ। ज्यादातर धार्मिक लोग चिंतन के अपने साम्प्रदायिक घेरों में बंद रहते हैं। पर युग-बोध को समझना भी अत्यन्त जरूरी है। युवाचार्यश्री ने अपने इस युग-बोध के कारण ही धर्म को एक नया जामा पहनाया है।

यह बात चल ही रही थी कि तरुण ने कहा- गुरुदेव! मुझे अंडे खाने का परित्याग करवा दो। युवाचार्यश्री एकदम चौंके। बोले-तुम अंडे खाते हो? उसने सहज भाव से स्वीकार किया कि जब-जब मैं ट्रेनिंग में जाता हूँ

तो वहां स्वास्थ्य संतुलन के लिए अंडे विशेष रूप से दिए जाते हैं। धीरे-धीरे अब यह मेरी आदत बन गई है।

युवाचार्यश्री ने कहा - पर यह हमारे जैन समाज के लिए तो बहुत ही बुरी बात है। क्या तुम्हारे परिवार के लोग इस बात को नहीं जानते? उसने कहा, मैं घर पर अंडे नहीं खाता हूँ। क्लब में या अपने मित्रों के साथ होटल में जाता हूँ तो खा लेता हूँ, पर अब मैं दृढ़तापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि कभी अंडे नहीं खाऊंगा।

उसकी दृढ़ता को देखकर युवाचार्यश्री ने उसे अंडे खाने का परित्याग करवा दिया। मैं सोचने लगा, जैन समाज के बच्चे हर क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करें यह तो एक बात है। पर आज चारों ओर से हमारे पारम्परिक संस्कारों पर हमला हो रहा है उसे कैसे रोका जाये? आज पूरे देश में ही नहीं पूरी दुनियां में भी मांसाहार का प्रचलन है, पर फिर भी आज विदेशों में अनेक लोग शाकाहार की ओर आकर्षित हो रहे हैं। वैज्ञानिकों ने भी आज इस बात को सिद्ध कर दिया है कि मांसाहार स्वास्थ्य के लिए घातक है। पर हमारे देश में जब इसका अत्यन्त आकर्षक रूप से प्रचार किया जाता है, तब सामान्य आदमी कैसे बच सकेगा?

बच्चों को विशेष रूप से सिखाया जाता है-“संडे हो या मंडे, रोज खाओ अंडे” तब हमारे निरामिष-भोजिता के संस्कारों का क्या होगा? ऐसा नहीं है कि निरामिष भोजन ज्यादा ताकतवर नहीं है। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो चुका है कि मांसाहार की अपेक्षा निरामिष भोजन ज्यादा निरापद है। फिर भी जैन समाज के बहुत सारे लोग भी मांसाहार की ओर आकर्षित हो रहे हैं। ऐसे में क्या यह जरूरी नहीं हो गया है कि जैन जीवन की धारणाओं को विशेष रूप से स्पष्ट करें।

सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि साधु-सन्त इन विषयों पर सार्थक प्रयत्न करें। पर कठिनाई यह है कि आज बहुत सारे बच्चे बड़े शहरों में रहते हैं। शहरों में साधु-सन्तों का जाना बहुत दुरूह रहता है। यद्यपि जब आचार्यश्री की पहल से साधु-सन्त शहरों में भी जाते हैं, पर वहां भी नई पीढ़ी के बच्चे बहुत ज्यादा संपर्क में नहीं आते। हमारे समाज के बड़े-बड़े

नेताओं के बच्चे भी साधु-संगति से बहुत दूर हैं। ऐसी स्थिति में अभिभावकों को, विशेष रूप से माताओं के लिए, यह जरूरी है कि वे निरामिष भोजन के महत्त्व को समझें।

यह जरूरी नहीं है कि मांसाहार सर्वथा स्वादिष्ट होता है। जो माताएं पाक विधि को समझती हैं, वे शाकाहार को भी स्वादिष्ट बना सकती हैं। पर आज कई माताओं ने रसोईघर को पिछड़ेपन की निशानी मान लिया है। आज अधिकांश घरों में नौकर ही रसोई बनाते हैं। निश्चय ही उनके हाथों में वह ममता तो हो ही नहीं सकती जितनी माताओं के हाथों में होती है। पर इससे बढ़कर आवश्यक यह है कि माताएं इतनी प्रबुद्ध हों कि वे बच्चों को अपने पारम्परिक संस्कारों से जोड़ सकें। जहां ऐसा होता है वहां बच्चे अपने आप अखाद्य भोजन से बच जाते हैं। बच्चों के स्वस्थ विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि जैन समाज अपनी खान-पान की परम्परा को परिशुद्ध बनाये तथा ध्यान के प्रयोगों से भी परिचित कराये।

3. संस्कार और सम्पर्क-सूत्र

आज सान्फ्रांसिस्को ये एक युवक आया है। वह पंजाब मूल का है। जैन धर्म की लम्बी परम्परा उसके परिवार के साथ नहीं है। पर अपनी मां से जो चेतन संस्कार प्राप्त किए हैं, वे अमेरिका में भी उसके साथ हैं। मैंने उससे पूछा- अमेरिका में तुम्हें अपनी धार्मिक चर्या में तो कोई कठिनाई नहीं है? उसने बहुत सरलता से कहा- मुझे तो कोई कठिनाई नहीं है, पर हमारे बच्चे ऐसा वातावरण नहीं पा सकते जिससे हम उनमें अपनी सांस्कृतिक विरासत को प्रतिष्ठित कर सकें। मैंने कहा- घर-परिवार का वातावरण यदि प्रभावी होता है तो बच्चे उससे स्वाभाविक रूप से प्रभावित होते ही हैं, तो फिर तुम्हारे बच्चों में अपने पारिवारिक संस्कार क्यों नहीं आते?

उसने कहा- आपका कहना सही है। हमारे बच्चों में आते तो हैं, पर वे जब अमरिकी तथा अन्य बच्चों के संपर्क में आते हैं तो उनका प्रभाव भी उन पर पड़ता ही है। घर का वातावरण सीमित है, बाहर का वातावरण असीमित है। हमारी कुछ बातें उन पर प्रतिबिम्बित होती हैं, पर अपने मित्रों की बातें उन्हें ज्यादा प्रभावित करती है। फिर हमें भी तो अपने धर्म की पूरी जानकारी नहीं है, अतः आवश्यक यह है कि कभी भारत में या कभी विदेशों में हमारे समाज के बच्चों के शिविर लगाए जायें। कुछ ऐसी बाल-पत्रिकाएं भी उनके पास पहुंचे तो वे हमारे संघीय संस्कारों से जुड़े रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त वीडियो, कैसेट, स्टीकर, चित्र आदि भी सुदूर रहने वाले लोगों के लिए संबल बनते हैं। एक समय था जब इन्हें अनावश्यक समझा जाता था, पर आज वे सब आवश्यक बन गए हैं। इसीलिए यहां से मैं ये सब चीजें खरीदकर ले जा रहा हूं। निश्चय ही हमारे संघ ने विकास

के जो नये द्वार खोले हैं, उनसे हमें गौरव होता है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान हमें अन्तर्राष्ट्रीय विचार से जोड़ता है। आवश्यकता है इसका व्यापक प्रसार हो।

मैंने उसे बताया- आजकल तो समण-समणियां भी देश-विदेश आते-जाते हैं, उनका भी इस दृष्टि से सार्थक उपयोग किया जा सकता है।

युवक ने कहा- इस विषय में तो एक निश्चित और ठोस योजना समय रहते सोच-समझकर बनाने की आवश्यकता है। मैं उसमें सहयोग दे सकता हूँ, पर आवश्यकता तो यह है कि हमारी केन्द्रीय संस्थाएं ऐसा मुकम्मिल प्रबंध करें कि जिससे हम विदेशों में रहने वाले लोगों को अपने संस्कारों से जुड़े रहने में सहयोग मिल सके।

सचमुच में यह सवाल उस युवक का ही नहीं है अपितु विदेशों में रहने वाले हमारे अनेक परिवारों का है। विदेशों में रहने वाले परिवारों का क्या, वास्तव में तो यह भारत के सुदूर क्षेत्रों में रहने वाले हमारे सभी लोगों का है।

असल में आज व्यापार-आजीविका एक ऐसा विकट प्रश्न हो गया है कि धर्मसंघ का जुड़ाव क्या, परिवार का जुड़ाव भी एक समस्या बन गया है। एक ही परिवार के कुछ सदस्य देश के उत्तर भाग में रहते हैं तो दूसरे सदस्य दक्षिण भाग में रहते हैं। आज तो पारिवारिक संपर्क भी छिन्न-भिन्न हो गए हैं। चाचा-ताऊ के बच्चे भी आपस में अजनबी बन जाते हैं। विवाह-शादियों पर या अन्य मौकों पर उनका सम्पर्क होता है तो भी वह इतना सीमित समय, तक ही होता है कि उससे पारिवारिकता को बहुत ज्यादा ऊर्जा नहीं मिलती। फिर संघीय संस्कार तो और भी बहुत दुर्लभ बात है। आज नई दुनियां ने जिंदगी के जो नये आयाम प्रस्तुत कर दिए हैं उनके प्रकाश में एक सुनिश्चित सोच का हमारे पूरे धर्मसंघ के सामने होना जरूरी है।

मैंने उस युवक को यह भी पूछा कि क्या विदेशों में तुम अपनी शाकाहारी परम्परा को निभा सकते हो? अमेरिका में तो ज्यादातर अशाकाहारी होटल होते हैं, तब तुम कैसे उनके साथ चल सकते हो?

उसने कहा- इसीलिए तो आजकल किसी भी आदमी के लिए अपने परिवार से बिछुड़ कर बाहर रहना असंभव हो गया है। लोग जिस तरह छितर-बिखर गए हैं उनसे संपर्क बनाने का एकमात्र साधन पत्र-व्यवहार या पत्र-पत्रिकाएं ही है। आवश्यकता है इस मीडिया को सबल बनाया जाए। जब कोई पत्र किसी आदमी की टेबल से टकराता है तो उसे कुछ न कुछ सोचने के लिए विवश होना ही पड़ता है। आज भी यह समस्या है। पर आने वाले वर्षों में यह समस्या और अधिक जटिल बन जायेगी।

हम चाहते हैं-हमें हमारे ताजे तथा प्रामाणिक समाचार-संवाद दिशा देते रहें, पर इसके लिए व्यवस्थाओं की मजबूती ही एकमात्र हल बन सकती है। आज दुनियां इतनी सिमटती जा रही है तथा एक ऐसी सामासिक संस्कृति सब जगह फैल-पसर रही है कि यदि संयोजित तरीके से उसका समाधान नहीं किया गया तो हम बिखर जायेंगे। इसमें कोई शक नहीं है कि जैन-धर्म के सब सम्प्रदायों को मिलाकर भी हमारी संख्या बहुत बड़ी नहीं है। फिर यदि एक सम्प्रदाय का विचार किया जाये तो समस्या और भी विकट बन जाती है।

ऐसी स्थिति में पत्र-पत्रिकाओं की एक विशेष भूमिका है। यह सही है कि लोगों की रूचियां भिन्न-भिन्न हैं। धर्मसंघ को सबकी रूचियों का ध्यान रखना पड़ता है। पर इसके साथ-साथ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि पत्र-पत्रिकाएं ऐसी संस्कृत, ठोस तथा सुरूचिपूर्ण सामग्री परोसे जिससे सबको तृप्ति मिले। उनमें बच्चों, महिलाओं, युवकों, प्रौढ़ों सबके लिए नियोजित सामग्री हो। यह जरूरी नहीं है कि पत्र-पत्रिकाएं बहुत ज्यादा निकलें। पर जो भी निकलें, वे इतनी व्यवस्थित हों कि सबको उनमें अपनी खुराक मिले। कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं के सामने अर्थ का भी सवाल आ जाता है। अनेक पत्र-पत्रिकाएं निकलती हैं तो उनसे कीमत भी ज्यादा होती है। सामान्य आदमी उनका भार नहीं उठा सकता, अतः इस दिशा में इतनी चतुराई से चलने की आवश्यकता है कि सामान्य आदमी पर भार भी ज्यादा न पड़े और वह अपनी रुचि का भी पोषण कर सके।

किसी कार्य में व्यापक प्रसार के लिए समाज के लिए कमजोर से

कमजोर व्यक्ति को देखना जरूरी है। कुछ लोग सोचते हैं कि लोगों के पास बहुत पैसा है, यदि थोड़ा पैसा वे अपने संस्कार-निर्माण के लिए पत्र-पत्रिकाओं पर लगावें तो कौन-सी बड़ी बात है? पर असल में वे बड़े आदमी समाज की सर्वमान्य कसौटी नहीं बन सकते। आवश्यकता यह है कि समाचार-संप्रेषण का काम सर्व-सुलभ हो। इससे देश-विदेश सभी जगह संघीय दृष्टि तथा संस्कारों का प्रसार होने में सुविधा रह सकती है।

पत्र-पत्रिकाओं की तरह साहित्य भी इस तरह का होना चाहिए जो सामान्य आदमी की पहुंच से बाहर न हो। ज्यादा महंगा साहित्य वे लोग नहीं खरीद सकते जो असली पढ़ने वाले हैं। उन लोगों के साहित्य-संग्रह का कोई अर्थ नहीं है जो उसे खरीद कर केवल अपनी अलमारियां भरते हैं। इस दृष्टि से विचार-विमर्श होना अत्यंत जरूरी है। यह तो प्रिंट मीडिया की बात है। आज तो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में कम्प्यूटर, लेपटॉप, आइपेड, टेब्लेट आदि तथा मोबाइल में इन्टरनेट, फेसबुक, वाट्स एप आदि ऐसे अनेक संचार माध्यम विकसित हो गए हैं जो क्षणभर में किसी भी संवाद को दुनियां के किसी कोने तक पहुंचा सकते हैं। आवश्यकता है उनका सदुपयोग किया जावे।

4. संस्कार-केन्द्रों की आवश्यकता

आजकल कोई भी समाचार-पत्र उठाकर देखो, उसमें दूरदर्शन के विज्ञापनों की भरमार दिखाई देगी। जिस समाचार पत्र का ज्यादा प्रसारण होता है, उसमें टेलीविजन के विज्ञापन भी ज्यादा मात्रा में होते हैं। कभी-कभी तो देखा जाता है कि आधे से भी अधिक विज्ञापन टेलीविजन के ही होते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि टेलीविजन का अधिक उत्पादन है। अनेक नई-नई कम्पनियां इस क्षेत्र में आगे आ रही हैं। वे इसलिए आगे आ रही हैं कि आज टेलीविजन की मांग ज्यादा है। मांग इसलिए ज्यादा है कि उसकी खपत ज्यादा है, खपत इसलिए ज्यादा है कि उसे अधिक लोग देखते हैं। गरीबों की झोंपड़ पट्टियों से लेकर महानगरों की समृद्ध बस्तियों तक इसका बेरोकटोक प्रवेश है। कई बहुमंजिली इमारतों की छतों पर तो एन्टिनाओं का जैसे मेला-सा ही लग जाता है। छोटे-छोटे गांवों-ढाणियों में भी एन्टिना अपनी गर्दन ऊंची कर अपने अस्तित्व को प्रकट करती हैं। इस क्रम को अब रोकना भी नहीं जा सकता। शहरी भीड़-भाड़, औद्योगिक विकास तथा सभ्यता के नये मानदण्डों ने ऐसा वातावरण बना दिया है कि हर समर्थ आदमी इसे खरीदना चाहता है। प्रतिष्ठा का भी यह एक ऐसा पहलू बन गया है कि जो आदमी टेलीविजन नहीं खरीदता, वह अपने आपको कमजोर समझता है। यदि बड़े लोग इसे नहीं खरीदते हैं तो बच्चे नहीं मानते। कहीं सचमुच में मनोरंजन का यह एक ऐसा तरीका है जो ज्यादा से ज्यादा ख्याति पाता जा रहा है। यह बात भी सही है कि टेलीविजन के कार्यक्रमों का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। कोमलमति बच्चे तो इससे और भी अधिक प्रभावित होते हैं।

एक बार मैं भीलवाड़ा के नागौरी गार्डन में प्रवास कर रहा था। हमारे

प्रवास-स्थल के पास ही कुछ खाली/खुले प्लाटों में काफी गंदा पानी भरा रहता था। उस खुले स्थान में बहुत सारे बच्चे भी तरह-तरह के खेल खेला करते थे। एक दिन मैंने देखा कि बच्चों की एक टोली छोटे-मोटे पत्थर ला-लाकर गंदे पानी में डालकर एक पुल-सा बनाने में व्यस्त हैं।

इस क्रम में कीचड़ के छींटे भी उन पर पड़ रहे थे, बल्कि वे गंदे पानी में फिसल भी रहे थे। पर उन्हें उस बात की कोई परवाह नहीं हो रही थी। वे बड़ी तन्मयता से अपने काम में जुटे हुए थे। मैंने उनसे पूछा-यह तुम क्या कर रहे हो? गंदे पानी में क्यों पत्थर डाल रहे हो? गंदगी क्यों फैला रहे हो?

उस समय उन्होंने जो उत्तर दिया, मैं उसे सुनकर दंग रह गया। उन्होंने कहा- हम गंदगी कहां फैला रहे हैं? हम तो उस तरह का पुल बना रहे हैं जैसा कि टेलीविजन में भगवान श्रीराम की बन्दर सेना ने बनाया था। मैं देख रहा था कि बच्चों की बन्दर सेना सचमुच उसी दृश्य का अनुसरण कर रही थी जो उन्होंने दूरदर्शन (टेलीविजन) पर देखा था।

इस तरह एक प्रसंग पर ही नहीं, अनेक प्रसंगों पर दूरदर्शन के कार्यक्रम विविध रूपों में न केवल बच्चों में ही अपितु बड़ों में भी अपना संस्कार छोड़ रहे हैं। कुछ संस्कार अच्छे भी हो सकते हैं पर यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि कुछ संस्कार गलत भी होते हैं। सवाल यह है कि गलत संस्कारों को कैसे रोका जाये? दूरदर्शन के प्रसारण को रोक पाना अब संभव नहीं है, बल्कि यह और भी अधिक फैलने वाला है। अतः आवश्यकता इसी बात पर विचार करने की है कि दूरदर्शन के कार्यक्रमों में सुधार कैसे किया जाये?

मेरे मन में विचार घूम ही रहे थे कि उन्हीं दिनों दूरदर्शन पर प्रेक्षाध्यान के चार सीरियल भी दिखाए गए। मैंने देखा, लोगों पर उनका बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा है। मैं सोचने लगा- यह ठीक है कि दूरदर्शन वालों को यह सुझाव दिया जाए कि वे ऐसी चीजें न प्रस्तुत करें कि जो सदसंस्कारों को खंडित करती हों। पर क्या उनसे यह आग्रह करना भी उचित नहीं होगा कि वे समाज के संस्कारों को गढ़ने का प्रयास करें? पर अब यह अनुरोध करने

से ही काम नहीं चलेगा। जाग्रत समाज वह है जो ऐसे रचनात्मक कार्यक्रम भी प्रस्तुत करे। केवल दूरदर्शन को कोसने की अपेक्षा उसके सामने कुछ अच्छे कार्यक्रम प्रस्तुत किए जा सकें जो शायद वह ज्यादा कीमती बात हो सकती है।

एक जैन-युवक ने बताया कि दूरदर्शन पर रामायण देखने के बाद मेरी बच्ची रोज सुबह ही सुबह आकर मुझे जयश्री सियाराम कहती है, तो समझने की बात यह है कि बच्चे तो जयजिनेंद्र भी कह सकते हैं। पर जरूरत इस बात की है कि जयजिनेंद्र को आज के परिप्रेक्ष्य में आकर्षक रूप से प्रस्तुत किया जाए।

अनेक लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं पर क्या हमारे पास ऐसा कुछ देने के लिए है जिसे आज के मनोरंजन के साथ जोड़ सकें। क्या राम की जगह महावीर को भी आकर्षक रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता?

टी. वी. ने भारत में ऐसी विज्ञापन संस्कृति को जन्म दिया है जो भोगवादी प्रवृत्ति को उकसाने में जरूरत से अधिक मदद कर रही है और यह कहा जाए कि कच्ची उम्र के बच्चे इसके सर्वाधिक शिकार हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। व्यक्तिवादी उपभोगवाद का व्यापक प्रदर्शन कर टी. वी. ने गरीब बच्चों में कुंठा को अंकुरित कर दिया है, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। बाल-सुलभ प्रवृत्ति के अनुरूप बच्चे विज्ञापनों को बड़ी तल्लीनता से देखते हैं।

भारत में आम तौर पर अभी भी बच्चों एवं बड़ों के दिमाग में यह अवधारणा बनी हुई है कि टी. वी. केवल मनोरंजन का माध्यम है। उनके लिए अभी भी इससे ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त करने तथा जिज्ञासा को शांत करने की संकल्पना दूर की बात बनी हुई है। वांस पैकार्ड का यह कहना सर्वथा उपयुक्त है—“हाल के ही वर्षों में टेलीविजन ने एक अच्छा अभिभावक होना तक अत्यंत कठिन बना दिया है।”

सचमुच आज मनोरंजन का प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। आज क्लबों-सोसाइटियों में जाकर अनेक जैन लोग अपने पारम्परिक पथ से भटक रहे हैं। सिनेमाओं से एक विकृत संस्कृति जन्म ले रही है, यह वास्तव में ही

टेढ़ी खीर है। ऐसे में क्या संस्कार को आकर्षक रूप देना आवश्यक नहीं है? इस दृष्टि से तेरापंथ युवक परिषद् द्वारा चलाए जाने वाले संस्कार केन्द्र जागरण हेतु एक मूल्यवान बिंदु बन सकते हैं।

पर उसके लिए समर्पित कार्यकर्ताओं की नितांत अपेक्षा है। आवश्यकता है कि समाज के लोग भी आगे आएँ। हमारे बहुत सारे लोग समझते हैं- खेल और संस्कार का क्या संबंध है? पर जो लोग मनोविज्ञान का अध्ययन करते हैं वे जानते हैं कि संस्कारों के निर्माण में खेलों की भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। इसलिये संभवतः संस्कार केन्द्र क्लबों एवं सोसाइटियों के विराम स्थल बन सकते हैं। आवश्यकता है कि समाज इस बात को समझे कि केवल-संस्कारों की रट लगाने से कुछ नहीं हो सकता जब तक कि उस दिशा में कोई ठोस प्रयास न हो।

यह सही है कि गलत संस्कार बिना प्रयत्न के आ जाते हैं और सुसंस्कार चाहने पर भी नहीं आते। पर यह केवल बच्चों का ही दोष नहीं है। जब वातावरण में सुसंस्कारों की गंध नहीं है तो बच्चे उसे सूँघ कैसे पायेंगे? बच्चों को गिरती संस्कृति से बचाना है, उन्हें शिष्ट, सभ्य और संस्कारी बनाना है तो हमारे घर का पास-पड़ोस का तथा स्कूलों-विद्यालयों का वातावरण शालीन तथा स्वस्थ बनाना अत्यन्त जरूरी है। अभिभावकों और शिक्षकों की सहजता ही एक मात्र उपाय है। आवश्यकता है संस्कार केन्द्रों को और अधिक आकर्षक तथा सुलभ बनाया जाए।

5. संत दर्शन : शुभ संस्कार

राजेन्द्र डाबड़ीवाल आज कलकत्ता से आचार्यश्री के दर्शन करने आया। वह “ओनर प्रेसिडेंट मैनेजमेंट प्रोग्राम” के अन्तर्गत पढ़ने के लिए हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, अमेरिका जा रहा है। दुनियां में बहुत कम लोगों को इस पढ़ाई का अवसर मिल पाता है। वह गत तीन वर्षों से इसके लिए प्रयत्न कर रहा था। इस वर्ष इसे यह अवसर मिला। इसके पिताश्री शिवचन्द्रजी डाबड़ीवाल भी साथ आये हैं। वे बड़े उद्योगपति हैं। समय की इनके पास कमी है। हवाई जहाज से दिल्ली होकर आए हैं। मैं सोचने लगा कि वह कौनसी प्रेरणा थी जो उनको यहां खींच लाई? पितृत्व की प्रेरणा तो उन्हें हवाई अड्डे तक ले जाती, यही काफी था, पर वे यहां लाडनूँ आए, इस बात में गहरा अर्थ होना चाहिए।

पर मुझे उस समय प्रश्न का उत्तर मिल गया जब उन्होंने बताया “डाबड़ीवाल परिवार आचार्यश्री का बहुत-बहुत आभारी है” हमारा पूरा परिवार आज यदि सदाचरण की राह पर चल रहा है तो इसका एक बहुत बड़ा कारण आचार्यश्री की प्रेरणा है। मैं इसे दो-तीन उदाहरणों में स्पष्ट करना चाहता हूँ। पहली घटना कलकत्ता की है। उस दिन वहां एक बहुत बड़ा भोज था। मारवाड़ी समाज के प्रमुख-२ लगभग ८०० युवक उसमें शामिल थे। पर जब शराब की बोतलों के ढक्कन खुलने लगे तो पता चला कि वहां केवल तीन युवक ऐसे थे जो उस दौर में शामिल नहीं थे। वे तीनों ही डाबड़ीवाल परिवार से सम्बद्ध थे।

“इसी तरह खानपान का भी ऐसा माहौल बन गया है कि आज अधिकांश मारवाड़ी लोग अशाकाहारी भोजन से जुड़ गए हैं। कलकत्ता में ही एक भोज का आयोजन था, उसमें शाकाहारी और अशाकाहारी भोजन दोनों ही प्रकार के भोजन की व्यवस्था थी। कुछ मारवाड़ी लोग जब

अशाकाहारी भोजनों की ओर जाने लगे तो व्यवस्थापकों ने उन्हें सूचित करना उचित समझा। इसलिए उन्होंने कहा—उधर अशाकाहारी भोजन की व्यवस्था है। उस समय लोगों ने जो उत्तर दिया मैं सुनकर दंग रह गया। उन्होंने कहा – क्या भोजन करना आप लोग ही जानते हैं? संकेत स्पष्ट था कि हम शाकाहारी और अशाकाहारी भोजन की विभक्ति को अच्छी तरह से समझते हैं।

“तीसरी बात केवल राजेन्द्र से ही सम्बन्धित है। पहले यह कभी-कभी रात में कुछ देर से घर लौटता था। व्यापारिक व्यस्तता भी एक कारण हो सकती हैं। पर देखता हूँ कि इसकी ओट में आज हमारे मारवाड़ी समाज के अनेक युवक भटक जाते हैं। नई जवानी, नई समृद्धि और मित्रों का आग्रह। अक्सर आदमी उसमें फिसल जाता है। राजेन्द्र के बारे में मुझे कोई संदेह नहीं था। पर फिर भी कोई गलती कब आकर आदमी को दबोच ले, यह कहा नहीं जा सकता। मैं इस बात को राजेन्द्र के सामने कह सकता था। पर मैंने सोचा—यह बात कहीं ऊपर से आनी चाहिए। स्वाभाविक रूप से हम आचार्यश्री की सेवा में बैठे थे। मैंने गुरुदेव से जरा सा संकेत किया। गुरुदेव ने राजेन्द्र से कहा—रात को देर तक घर से बाहर नहीं रहना चाहिए। उसने उसी समय गांठ बांध ली। और आज स्थिति यह है कि यथासंभव वह देर रात तक घर से बाहर नहीं रहता।

“ये कुछ ऐसी बातें हैं जो हमें आचार्यश्री तक खींच लाती है। आज जबकि राजेन्द्र अमेरिका जा रहा है तो मैं भी इसी अभीप्सा से इसे आपके दर्शनार्थ लाया हूँ कि यह आपसे सम्बल प्राप्त करें। विदेशों के उन्मुक्त वातावरण में आस्थाओं का स्थिर रहना जरा कठिन होता है। वहां हमें कोई टोकने वाला नहीं है। पर मैं समझता हूँ आपका एक-एक शब्द प्रहरी बन जायेगा। इसीलिए मैं इसे यहां आपके दर्शनार्थ लाया हूँ। वास्तव में इससे बढ़कर और कोई मांगलिक कार्य हो भी नहीं सकता। आपकी मांगलिक ही नहीं, शुभदृष्टि ही हमारे जीवन की एक बहुत बड़ी निधि है।” यह केवल तेरापंथ का सवाल नहीं है। पूरे जैन समाज में यह एक बहुप्रचलित प्रथा है। जैन श्रावक जब भी बाहर जाते हैं अपने-अपने गुरुओं से मांगलिक सुनते

हैं। मांगलिक के अनेकानेक प्रसंगों ने अपने आप में एक इतिहास को संजो कर रखा है। आचार्यश्री ने राजेन्द्र को कई शिक्षाएं फरमाईं। राजेन्द्र ने उन्हें मन में रमा ली।

मैं संत संपर्क की इस गरिमा के विषय में सोचने लगा। बहुत बार संत लोग श्रावकों को, विशेष कर बच्चों को, यह प्रेरणा देते हैं कि जहां तक हो सके, प्रतिदिन संतो के दर्शन करना चाहिए। सचमुच इसका बहुत बड़ा अर्थ है। आज जैन समाज जो बहुत सारी आधुनिक बुराइयों से बचा हुआ है, उसका मूल कारण यही है कि उसका संतजनों से प्रगाढ़ सम्पर्क है। कुछ जैन सोचते हैं—संतो को अपने दर्शन कराने की लालसा क्यों रहती है? जिसकी भावना होगी, वह अपने आप संत-दर्शन कर लेगा। पर यदि गहराई से विचार किया जाये तो यह संतो के अपने दर्शन करवाने की भावना नहीं है, अपितु समाज के लोगों का जब सन्तों से गहरा सम्पर्क रहता है तो सहज ही उन्हें संभलने का अवसर मिल जाता है। यदि किसी में कोई गलत आदत भी पड़ जाती है तो उससे मुक्त होने का उपाय रहता है। जब संपर्क ही छूट जाता है तो कौन किसको कहे?

सच तो यह है कि इससे आदमी को स्वयं एक विवेक रहता है कि मैं यदि कोई गलत काम करूंगा तो संतो के दर्शन करने का पात्र रहूंगा या नहीं? इसीलिए आदमी के कदम गलत राह में उठते-उठते रुक जाते हैं। संत दर्शन से, संतो की प्रेरणा से अनेक लोग अनेक प्रकार की कठिनाइयों से उबर जाते हैं। यह संतो की प्रतिष्ठा का सवाल नहीं है। यह तो व्यक्ति के अपने स्वयं के चैतन्य-जागरण का सवाल है।

मैंने बहुत बार देखा है, बहुत सारे लोग अपने किसी प्रियजन का निधन हो जाने के बाद आचार्यवर के दर्शनार्थ आते हैं। जब वे आते हैं, तब अत्यंत शोक-संतप्त होते हैं, पर दर्शन-मात्र से उन्हें इतनी सान्त्वना मिलती है कि उनका संताप काफी कम हो जाता है।

हमारे यहां प्रथा है कि बहुत सारे लोग जब यात्रा पर जाते हैं तो संतो से मंगलमंत्र सुनकर जाते हैं। निश्चय ही इसका एक मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। उस दिन यही दृश्य मैं देख रहा था।

6. संस्कार और अन्धविश्वास

घर आगार (गृहस्थ) और अणगार (भिक्षु) के बीच की भेदक रेखा है। जैन आगमों में मुनियों के लिए अणगार शब्द का प्रयोग सैंकड़ों बार हुआ है। बल्कि यह शब्द जैन मुनि की अपनी एक पहचान बन गई है। आहार और पानी के बाद मनुष्य घर से ही सबसे ज्यादा सघनता से जुड़ा हुआ है। बहुत सारे भिक्षु भिक्षा के रूप में आहार और पानी की निश्चिंतता से अपने आपको तोड़ लेते हैं, पर मठों तथा विहारों के रूप में वे घरों से फिर जुड़ जाते हैं। भगवान् महावीर ने प्रतिबद्धता से मुक्त होने के लिए ही मुनि को अणगारत्व प्रदान किया। जैन मुनि का कहीं कोई घर नहीं होता।

पर एक जैन गृहस्थ इस प्रतिबद्धता से मुक्त नहीं हो सकता। उसे अपने परिवार के लिए कोई न कोई आसरा ढूंढना ही पड़ता है। किराये के मकानों में रहने वाले लोग ही इस दर्द को अच्छी तरह से पहचान पाते हैं। इसीलिये एक गृहस्थ के लिए अपना घर एक बहुत ही प्यारा शब्द होता है। इसी भावना से उस युवक ने अपना एक मकान बनवाया था। भव्य और आलीशान। सब तरह की सुविधाओं से परिपूर्ण। गृह-प्रवेश का अवसर था। थोड़ी फिनिशिंग ही बाकी थी। पर उससे पहले कि वह उसमें प्रवेश करे, अपनी उस उपलब्धि को देवता के चरणों में चढ़ाने के रूप में एक दिन आचार्यश्री को भी वहां पधारने का निवेदन किया।

आचार्यश्री रात भर वहां विराजे। पूरे परिवार को विविध शिक्षाओं का बड़ा सहज अवसर उपलब्ध हुआ। यह सही है कि मकान कई लोग बनवाते हैं पर ऐसा अवसर बहुत कम लोगों को मिल पाता है। इसका एक कारण यह भी था कि मकान जैन विश्व भारती की बिल्कुल सन्निधि में था। यह एक उल्लेखनीय बात है कि विश्व भारती बन जाने के बाद लाडनू कस्बे

का इस दिशा में एकदम कायापलट हो गया है। पर यह अवसर भी उन्हीं लोगों को मिल सकता है जिनकी भावनाएं धर्म के साथ गहरे रूप से जुड़ी हुई होती हैं।

फिर गृह-प्रवेश का क्षण आया। उल्लास की कोई कमी नहीं थी। वृहत् भोज आयोजित हुआ। गांव से ही नहीं, देश-विदेश से भी पारिवारिक लोग उसी खुशी में हिस्सा बंटने को उपस्थित हुए। बाजे पर मधुर संगीत की स्वरलहरियां बज रही थीं। आगन्तुकों के आतिथ्य की गहमागहमी। अलग-अलग लोग अलग-अलग बिन्दुओं से मकान को देख रहे थे। मैं देख रहा था मकान का वास्तुशिल्प ही अपने आपमें सजावट था।

एक जमाना था जब मकानों को विविध प्रकार के भित्ति चित्रों से सजाया जाता था। पर आधुनिकता-बोध के साथ-साथ आजकल वह प्रथा घिस गई है। उसके स्थान पर आजकल सिने तारिकाओं के भड़कीले चित्र काफी प्रचलित हो गए हैं। कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्यों से परिपूर्ण वाल-प्रिंटिंग (wall printing) भी पूरी दीवारों को सुशोभित करती है। पर यहां ऐसा कुछ नहीं था। हां, अपने पारिवारिक जनों के बड़े चित्रों के साथ जैन महापुरुषों के कुछ चित्र भी लगाने के लिए आये पड़े थे। तैयुप द्वारा प्रकाशित मंगल पत्रक भी उनमें एक था।

बहुत बार देखते हैं कि जैन लोगों के घरों में भी दुनियां भर के देवताओं का मेला लग जाता है। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण है-जैन लोगों की अपने सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति उदासीनता। दूसरा कारण है राज-मिस्त्रियों पर भरोसा। निश्चय ही राज-मिस्त्रियों का तो अपना एक बंधा-बंधाया कला-बोध होता है। वे जैसा चित्रांकन सामान्य रूप से अन्य घरों में करते हैं वैसा ही जैन घरों में कर देते हैं। पर इस दृष्टि से जो लोग अपने सांस्कृतिक मूल्यों को पहचानते हैं वे अपनी आस्था को भी अपने मकान-दीवारों पर अंकित करने की बुद्धिमानी अवश्य दिखाते हैं।

मकान दिल खोलकर बनाया गया था। अतः उसमें बड़े रूम, ड्राईंग रूम आदि हों, इनमें तो कोई आश्चर्य की बात ही नहीं थी। पर उनके साथ-साथ एक उपासना कक्ष का होना जरूर एक गहरी आस्था से जुड़ा

हुआ था। देखा जाता है आजकल लोगों को और सब कुछ बातों के लिए मकान में अवकाश मिल जाता है, पर अपनी मानसिक शांति के लिए उपासना कक्ष के लिए कोई अवकाश नहीं मिल पाता।

गृह-प्रवेश के अवसर पर अपनाये गए रस्मों-रिवाजों में भी जैनत्व झलक रहा था। रात्रि जागरण किया गया, पर उसके लिए पेशेवर संगीत मंडली को नहीं बुलाया गया। न रामदेवजी आये, न हनुमानजी को भी निमन्त्रित किया गया। ऐसा नहीं है कि उनकी अवमानना की गई। अपनी जगह सब लोगों का महत्त्व होता है। पर जो लोग वीतराग को अपना देव मानते हैं उनके लिए दूसरों के सामने हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं रहती। जो व्यक्ति दृढ़धर्मी होता है, देवता स्वयं उसको नमस्कार करते हैं।

सचमुच आज आदमी इतने अज्ञान से घिरा हुआ है कि विज्ञान की जगमगाहट में भी बहुत सारी अंधदृष्टियां उसका बंधन बन रही हैं। कितना भावनापूर्ण था वह क्षण जब गृह-प्रवेश के लिए उद्यत भाई को तिलक करने का प्रसंग आया। साधारणतया ऐसे क्षणों में भाई-बहिन का भावनामय रिश्ता एक संयोजक कड़ी बनता है। पर एक लौकिक बाधा सामने आ रही थी। कुछ वर्षों पहले एकाकी बहन के मांग की सिन्दूर पुंछ गयी थी। सचमुच वह क्षण भाई-बहन के लिए बड़ा हृदय-विदारक था। वह बात तो कब की बीत चुकी थी। पर सामान्य लौकिक शिष्टाचार के नाते बहन ने इस मांगलिक प्रसंग पर भाई के सामने भी नहीं आ सकती थी। पर उस क्षण बहन का सारा दुःख पिघल कर बह गया जब भाई ने कहा-मैं आरती अपनी बहन से ही करवाऊंगा। कितना अच्छा होता मेरे बहनोई भी आज मेरी खुशी में शामिल होते। पर नियति को वह मंजूर नहीं था। खैर, जो कुछ हो गया उसे बदला नहीं जा सकता। बहनोई असमय में चले गए, वे लौट नहीं सकते। पर मेरे लिए बहन-बहन है, मंगल-मुखी है। मैं उसी से आरती करवाऊंगा। और अन्धविश्वास के टूटते हुए बांध की धारा में जैसे सारा अमंगल बह गया।

7. मृत्यु और अन्धरूढियां

वह एक युवक था। उसका चेहरा उदास था। सिर मुंडा हुआ था। उसने आचार्यश्री के दर्शन किए। आचार्यश्री ने पूछा- कहां से आए हो? उसने उत्तर दिया-मैं हरिद्वार से आ रहा हूं। पिताजी का देहांत हो गया था। उनकी अस्थियों का विसर्जन करने के लिए गया था। आते समय आपके दर्शनार्थ उपस्थित हुआ हूं।

यह एक युवक की बात नहीं है। बहुत सारे जैन लोग ऐसा ही करते हैं। मैं सोचने लगा-क्या गंगा में अस्थि-विसर्जन से आदमी की मुक्ति हो जाएगी? हो सकता है कुछ लोगों का यह विश्वास हो, पर जो जैन धर्म के रहस्य को समझता है वह अच्छी तरह से जानता है कि त्याग और तपस्या के सिवाय मुक्ति का और कोई मार्ग नहीं है। किसी नदी में स्नान करने मात्र से यदि मुक्ति हो जाये तो सबसे पहले मुक्ति जो उन जीवों की होनी चाहिए तो गंगा में ही जनमते हैं, गंगा में ही जीते हैं और गंगा में ही देहत्याग करते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि गंगा एक पवित्र नदी है। उसके पानी में कुछ ऐसी रासायनिक विशेषताएं हैं जो किसी भी नदी में नहीं हैं। पर उन विशेषताओं से मृत व्यक्ति का क्या संबंध हो सकता है? मृत व्यक्ति उससे जी नहीं सकता बल्कि आज तो शवों से भर जाने के कारण गंगा स्वयं प्रदूषित होने लगी है। गंगा के घाट पर पंडों-पुजारियों की जो दुकानें लग रही हैं उनकी अपनी अलग कहानी है। जैन तत्त्व-दर्शन से इसका कोई संबंध नहीं है।

वास्तव में जैन धर्म की दृष्टि से मृत्यु तो एक महोत्सव है। हम देखते

हैं कि हमारे यहां साधु-साध्वियों के स्वर्गवास पर कोई शोक नहीं मनाया जाता। अनेक साधु-संत सहर्ष मृत्यु को आमन्त्रित करते हैं। अनेक श्रावक भी संथारे में अपनी देह का त्याग करते हैं। तब उनके देहावसान पर शोक कैसा? पर यह बात जरा गहरी है। सामान्य व्यक्ति की समझ में नहीं आ सकती। सामान्य आदमी केवल शरीर की भाषा को समझता है, जबकि जैन धर्म कर्म की भाषा को समझने पर बल देता है। आवश्यकता तो इस बात की है कि जैन गृहस्थ भी अपने पारिवारिक जनों के देहावसान के अवसर पर दुःख न करें अपितु इस बात की कोशिश करें कि मरने वाले की आत्मा को शांति मिले और स्वयं भी कर्म-बंधन से भारी न बनें। रोने-धोने के स्थान पर उनकी विशेषताओं की स्मृति करें।

पर आज तो सब कुछ उल्टा हो रहा है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त इतने विधि-विधानों का पालन किया जाता है जो अपने सांस्कृतिक मूल्यों से बहुत-बहुत दूर है। आदमी जब मरता है, उसे श्मशान यात्रा कराई जाती है तो हाथों में गीला आटा दिया जाता है। क्या यह आटा साथ जायेगा? कई दिनों तक चिता को पानी से ठंडा किया जाता है, क्या यह पानी मृतक तक पहुंचता है? कौओं को कागोल दी जाती है, क्या वह मृतक को मिलती है? बड़े-बड़े मृत्यु-भोज किए जाते हैं, क्या वे मृतक व्यक्ति की भूख मिटा सकते हैं? सचमुच ये बहुत सारे प्रसंग हैं जो चिंतन मांगते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि इन सब अंधविश्वासों के पीछे अनेकानेक तर्क जुड़े हुए हैं। लोग कहते हैं—कौओं को कागोल डालने के साथ मृतक की भावना का बहुत गहरा संबंध है। कौए कागोल को तभी खाते हैं जब उनके साथ मृतक की प्रिय वस्तु डाली जाए। पर यह कोरा बहम है। भूख होती है तो कौए तो भोजन पर अपने आप झपट पड़ते हैं भूख नहीं होती है तो वे किसी भी मनुहार से नहीं आते। इसी प्रकार मृत्यु भोज में खिलाई गई बढ़िया मिठाइयां भी मृतक को आगे नहीं मिल सकती। यदि ऐसा होता तो दुनियां में जो अधिकांश लोग मृतभोज-श्राद्ध नहीं करते हैं क्या उनके पूर्वज भूखों ही मरते हैं? असल में ये सारी धारणाएं कुछ एक लोगों के स्वार्थ के साथ जुड़ी हुई होती है। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए वे लोग ऐसी बातों का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करते रहते हैं। अनेकानेक ग्रन्थ भी इन सब धारणाओं

से रंगे पड़े हैं। पर जिन लोगों की आस्था कर्म में और कर्म-मुक्ति में है वे लोग कभी भी ऐसे झूठे बहकावे में नहीं आते।

कुछ लोग कहते हैं- बहुत लम्बे समय से ये सारी प्रथाएं चल रही हैं तो गलत कैसे हो सकती हैं तथा इनको कैसे छोड़ा जा सकता है? पर यदि थोड़ी गहराई से विचार किया जाए तो पता लगेगा कि बहुत सारी अंधरूढ़ियां जैन लोगों को राजनैतिक परवशता के कारण मध्यकाल से स्वीकार करनी पड़ी थी। अब उन्हें अपने कंधो पर ढोते रहना कोई बुद्धिमता नहीं है।

यह सही है कि जहां समाज होता है वहां कुछ परम्पराएं भी होती हैं। बिना परम्पराओं के समाज का चलना कठिन है। हर परम्परा किसी न किसी आवश्यकता से उद्भूत होती है। उसे प्रारंभ करने में बड़ा प्रयास करना पड़ता है। पर चलते-चलते जब उसका संदर्भ घिस जाता है और केवल लीक रह जाती है तो वह बेकार बन जाती है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि उनके स्थान पर कुछ नई परम्पराओं को जन्म दिया जाये।

मृत्यु के साथ पंथवारी की, तीसरे दिन की, रोने-धोने की, न जाने कितनी-कितनी प्रथाएं जुड़ी हुई हैं। उन सबके साथ एक सांस्कृतिक भेद तो जुड़ा हुआ है, पर कुछ अस्वस्थताएं भी जुड़ी हुई हैं। इस सारे क्रम में विधवा स्त्रियों के साथ जो बीतता है वह तो और भी अधिक दुःखद होता है। सचमुच इन सारी बातों में एक बड़े परिवर्तन की अपेक्षा है।

मृत्युपरांत जब हम पुरानी परम्पराओं को नकारते हैं तो आवश्यक हो जाता है उनके स्थान पर कुछ नई परम्पराओं को चालू किया जाए। इसी दृष्टि से एक परम्परा हमारे यहां पिछले वर्षों से चालू हुई है। किसी भी परिवार में जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो उस परिवार के सदस्य सामूहिक रूप से आचार्यश्री के दर्शनार्थ आते हैं। इससे आर्त्तध्यान का विमोचन तो होता ही है, पर इस बहाने लोगों को एक संबल मिल जाता है। मैंने देखा है जब वे लोग आते हैं तो उनका मन बहुत भारी होता है पर आचार्यश्री का उपदेश प्राप्त करते हैं तो उन्हें जीवन में नया प्रकाश मिलता है। निश्चय ही यह प्रकाश हरिद्वार या अन्य किसी तीर्थ में नहीं मिल सकता। आवश्यकता है कि ऐसी नई परम्पराओं को बल दिया जाए।

8. जैन संस्कार और हैप्पी बर्थ डे

जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। यह सत्य ही समुपासना का एक प्रारूप है। इसीलिए इसमें अंधविश्वास को कोई स्थान नहीं है। यद्यपि सत्य के अविकल रूप की पहचान सामान्य आदमी के वश की बात नहीं है, फिर भी आज विज्ञान की जो अवधारणाएं सामने आ रही हैं, उनसे जैन धर्म बहुत निकट प्रतीत हो रहा है। क्योंकि जैन धर्म श्रमणों का धर्म है, इसलिए समाज की चिंता का दूसरा मूल विषय नहीं रहा है। पर भगवान् महावीर ने श्रमण और श्रावकों की साधकीय भूमिका को स्वीकार कर साधारण गृहस्थ को भी धर्म करने का अधिकार प्रदान किया है। इसलिए भले ही जैन श्रावक श्रमण की भूमिका में नहीं जी रहा हो पर इसमें कोई भी संदेह नहीं कि अंधविश्वास उसकी चेतना को नहीं घेर सकते।

जैन श्रावक एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने सामाजिक दायित्वों से मुक्त नहीं हो सकता। यदि वह सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो जाता है तब तो फिर वह श्रमण ही बन जाता है। पर जो श्रमण नहीं बनता है वह यदि अपनी पारिवारिक या सामाजिक स्थिति को नहीं समझता है तो लटक जाता है, इसलिए भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इस दृष्टि से बहुत सारे ग्रन्थ लिखे हैं। यदि उन सब पर विचार किया जावे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि जैन धर्म एक ज्योतिर्मय धर्म है और श्रावक के लिए भी उसकी उपयोगिता स्पष्ट है। यदि कोई श्रावक सही तरीके से अपना जीवन यापन करता है तो न उसका अपना ही जीवन सुखमय बन जाता है अपितु पूरे परिवार और समाज के लिए भी वह अत्यंत उपयोगी बन जाता है तथा संसार में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हुए भी एक दिन अपनी मंजिल तक पहुंच जाता है।

जैन दर्शन का कर्मवाद में विश्वास है। यद्यपि कर्म इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आते हैं, फिर भी इधर विज्ञान में जो खोजें हो रही है, उनसे कर्म के अस्तित्व को समझने में काफी सुविधायें मिल रही हैं। यदि हम जैन श्रावकों की चर्या का अध्ययन करें तो लगेगा कि आज वे कर्मवाद से कितने दूर चले गए हैं।

जब एक बच्चा पैदा होता है तो वह अपने साथ कर्म का एक सुनियोजित तंत्र लेकर ही पैदा होता है। यह सही है कि बाद में उसमें कुछ परिवर्तन भी संभव हो सकते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई अन्य व्यक्ति किसी बच्चे के भाग्य का निर्णय कर सकता है। अपने आप का निर्णय तो वह खुद साथ लेकर आता है, तब भला इस रूढ़ि में क्या तुक हो सकता है कि छठी के दिन विधाता के द्वारा बच्चे के भाग्य का निर्णय करने के लिए दवात-कलम और बही रखी जाये।

बच्चा अपने आप का विधाता स्वयं है। कोई दूसरा उसके भाग्य को नहीं लिख सकता। उसके भाग्य के निर्णायक तत्व उसके जीन्स में स्वयं निहित है। ऐसी स्थिति में विधाता के द्वारा उसके भाग्य का निर्णय करवाने का कोई सही आधार नहीं है। जैन संस्कार की दृष्टि से यह एक आयातित संस्कार है।

इसी प्रकार जब बच्चे का नामकरण संस्कार कराया जाता है तब भी न जाने कितनी अन्धविधियों का अनुगमन किया जाता है, जो जैनत्व के साथ मेल नहीं खाती। असल में वह सारा संस्कार ब्राह्मणों द्वारा ही कराया जाता है। इस प्रक्रिया में उसका कोई दोष नहीं है। वे अपने तरीके से सारे संस्कार करवाते हैं। पर यदि जैनत्व की दृष्टि से विचार किया जाये तो यज्ञ, होम आदि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। गुजरात में जहां जैन संस्कार में थोड़ी गहनता है, नामकरण के लिए ऐसी कोई आरंभ-समारंभ वाली विधि का अनुगमन नहीं किया जाता। वहां नाम वाले दिन बच्चे की बुआ आती है और बच्चे के कान में उसका नाम बोल देती है। वही उसका नाम हो जाता है। न कोई आरंभ-समारंभ और न कोई आडंबर। इसलिए जैन परिवारों में यह चिंतन का विषय है कि वे इस दृष्टि से कहां तक जागरूक हैं?

नामकरण में भी अपनी संस्कृति का बहुत बड़ा सवाल है। जैन परिवार में जन्म लेने वाले बच्चे का नाम यदि मुरलीधर रखा जाता है तो यह एक सांस्कृतिक विरोध है। जो लोग वैदिक संस्कृति में विश्वास रखते हैं, वे यदि अपने बच्चे का नाम मुरलीधर या ऐसा ही कोई वैदिक संस्कृति परक नाम रखते हैं तो समझ में आने वाली बात है।

पर जैन संस्कृति में विश्वास रखने वाले लोगों के लिए अपने सांस्कृतिक मूल्यों को नहीं समझ पाना चिंतन का विषय है। बहुत सारे समझदार जैन लोग अपने बच्चों के नाम तीर्थकरों, गणधरों या जैन परम्परा के विश्रुत व्यक्तियों के नाम पर रखते हैं। कुछ लोग प्रकृति-परक या गुण-संज्ञक सांस्कृतिक नामों का भी चुनाव करते हैं। यह एक स्वस्थ परम्परा है।

नाम के साथ ज्योतिष का महत्त्व भी जुड़ा हुआ है। कौन जातक किस क्षण, घड़ी, मुहूर्त में पैदा हुआ है, उसका बहुत सूक्ष्म विज्ञान है, यह अन्ध विश्वास नहीं है, अपितु पूरी विश्व-व्यवस्था का एक नियोजित गणित है। अतः इस आधार पर नाम के आद्याक्षरों का भी चुनाव किया जा सकता है। पर अपनी सांस्कृतिक विरासत को नहीं समझकर सिनेमा-एक्टरों के पीछे घूमना बहुत समझदारी नहीं लगती।

आजकल नये युग के लोग अपने बच्चों का नाम अंग्रेजी तरीके से निकालते हैं। बच्चों की वर्षगांठ की अंग्रेजी तरीके से मनाते हैं। यह ठीक है कि बच्चा परिवार में खुशियां लेकर आता है वह आगे जाकर परिवार का कर्णधार बनता है, वंश-परम्परा को आगे बढ़ाता है। पुराने जमाने में भी 'संवच्छर पड़िलेहणा' के रूप में ऐसे उत्सव मनाये जाते थे। ऐसे क्षण गृहस्थ के जीवन में सहज ही आमोद-प्रमोद के क्षण होते हैं। पर क्या वह आमोद-प्रमोद केक काटने, मोमबत्तियां जलाने या अंग्रेजी कविताएं बोलने से ही प्रकट होता है? क्या यह एक प्रकार से अंग्रेजी की दासता का ही प्रतीक नहीं है? अवश्य ही इस दृष्टि से पारम्परिक मूल्यों की सुरक्षा करना अत्यन्त जरूरी है।

इसी तरह बच्चे के जन्म पर थाली बजाना और बच्ची के जन्म पर छाज पीटना भी एक अशोभन प्रथा है। यह ठीक है कि बच्चे और बच्ची के

साथ कुछ आर्थिक तथा सामाजिक सवाल जुड़े हुए हैं। लड़कियों की शादी में दहेज जुटाना भी इसके साथ जुड़ा हुआ है। पर आवश्यकता तो इस बात की है कि इन समस्याओं का समाधान खोजा जाये। जब समाज के रथ के स्त्री और पुरुष दो बराबर के पहिये हैं, ऐसी स्थिति में लड़कियों के जन्म के साथ ही यदि हीन-भावना जनम जाती है तो वह समाज आगे जाकर कैसे योग्य माताओं का निर्माण कर सकेगा ?

यद्यपि इन दृष्टियों में कुछ जागरूकता पैदा हो रही है, पर युगों-युगों से पड़े हुए संस्कारों को उखाड़ने के लिए काफी तीव्र और सघन प्रयासों की आवश्यकता है।

9. विवाह-प्रथा और परम्पराएं

विवाह एक सामाजिक संस्कार है। इसीलिए इसकी कोई शाश्वतिक व्यवस्था नहीं बन सकती। समय-समय पर विवाह-संस्था में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। एक समय ऐसा था जब भाई-बहन का युगल ही आगे जाकर पति-पत्नी के सूत्र में बंध जाता था। आज शायद यह कल्पना भी दुरूह लगती है, लेकिन यौगलिक युग में यह एक आम व्यवस्था थी। एक समय था जब पत्नी को पति की चिता के साथ बलात् जलकर मरना पड़ता था। सती प्रथा को धर्म के रूप में भी मान्यता प्राप्त थी, पर आज विधवा-विवाह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं रह गई है। एक जमाना था जब बहुपत्नी-प्रथा गौरव का विषय समझी जाती थी, आज दूसरी शादी करना कानून प्रतिबंधित है। कोई जमाने में स्त्रियों के लिए पर-पुरुष का स्पर्श ही नहीं, दर्शन भी वर्ज्य था, आज डिस्को-डांस में लोग झूम-झूम कर नाचते हैं। कोई जमाने में व्यक्ति जिस हाथ को थाम लेता था उसे निभाने की संयुक्त जिम्मेदारी मानता था। आज तलाक आम बात हो गई है। असल में जो व्यवस्थाएं सामाजिक होती हैं, उनके मूल्य-मान समय-समय पर बदलते रहते हैं।

जैन धर्म एक शाश्वतिक सत्य है। इसीलिए इसके अन्तर्गत सामयिक प्रथाओं के बारे में विचार न होना एक स्वाभाविक बात है। कुछ लोग इन सारे संबंधों को धार्मिक संस्कार मानते हैं। इसीलिए स्मृतियों-स्मार्तों के रूप में प्रलम्ब विधि-निषेधों का जाल उन्हें लपेटे हुए है। जब भी उसमें थोड़ा-सा भी परिवर्तन होता है तो भीरु आस्थाएं हिल जाती हैं और धर्म खतरे में पड़ जाता है। जैन धर्म के साथ ऐसी कोई बात नहीं जुड़ हुई है। इसीलिए जैन श्रावक लोग विवाह के संबंध में समय-समय पर अनुकूल परिवर्तनों को अपने में पचाते रहे हैं।

इस संदर्भ में मानवीय दृष्टि से जो सबसे महत्वपूर्ण विचारणीय विषय है, वह है स्त्री और पुरुष को समानता का दर्जा। महावीर से पहले स्त्रियों को बराबरी का दर्जा प्राप्त था। वैदिक परम्परा में स्त्रियों के लिए संन्यास का दरवाजा भी बंद था। स्त्री मुक्ति की अधिकारिणी नहीं मानी जाती थी। पर महावीर ने इस असमानता पर जोरदार प्रहार किया। उन्होंने न केवल अपने धर्मसंघ में स्त्रियों को दीक्षित ही नहीं किया अपितु उनके मुक्ति के अधिकार की भी मुक्त घोषणा की। हो सकता है कुछ जैन लोग आज भी स्त्री - मुक्ति का समर्थन न करें, पर जैन आगमों के आधार पर स्त्री-मुक्ति की बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। महावीर ने साधु और साध्वी दोनों के विकास के उच्चतम शिखर पर आरोहण की बात को मान्यता प्रदान की। अलबत्ता समाज में यह व्यवस्था साकार बन सकी या नहीं, यह एक विचार का विषय बन सकता है आज तो श्रावक-समाज में ही नहीं बल्कि धर्म समाज में भी स्त्री और पुरुष के बीच एक विभक्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है। इसमें शायद जैनतर संस्कारों का विशेष हाथ रहा हो। फिर भी जैन-परम्परा में समय-समय पर ऐसे प्रबुद्ध पुरुष पैदा होते रहे हैं जिन्होंने स्त्री-समर्थता का न केवल समर्थन ही किया अपितु एक सीमा तक उसे साकार भी किया है। इस दृष्टि से आचार्य तुलसी का उदाहरण हमारे सामने है। क्या श्रावक-समाज स्त्री-सम्मान के रूढ़ संस्कारों के विषय में पुनर्विचार कर सकता है ?

यह सही है कि स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचना में क्षमतागत कुछ विषमताएं हैं। पर इसमें भी कोई शक नहीं कि पुरुष के व्यक्तित्व में कुछ विशेषताएं हैं तो स्त्री के व्यक्तित्व में भी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। विशेषताओं के प्रतिफलन का क्षेत्र भले ही भिन्न-भिन्न रहा हो पर अपने क्षेत्र में स्त्रियों के विकास की संभावनाओं से इंकार नहीं किया जा सकता। विशेषताओं के अनुपात में स्त्री और पुरुष के कार्यक्षेत्र में थोड़ा अन्तर हो सकता है। पर इस आधार पर स्त्रियों को हीन मानने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। समाज-रथ के स्त्री और पुरुष दो पहिए हैं। जब तक इनमें सहगामिता नहीं होगी, समाज आगे नहीं बढ़ सकेगा।

वर्तमान विवाह-व्यवस्था के बारे में आज समाज में जो सबसे बड़ी

कठिनाई है वह पुरुष को प्रथम और स्त्रियों को दूसरा दर्जा देने की है। इसलिए न केवल वे जन्मते ही हीनता के घेरे में कैद हो जाती हैं अपितु पूरा स्त्री पक्ष ही अपने आपको कमजोर मानने लगता है। इसीसे जहां पुत्र के जन्मते ही थाली बजाई जाती है वहां पुत्री के जन्म के अवसर पर छाज पीटा जाता है। शादी के मामले में भी स्त्री-पक्ष अपने आपको हीन मानता है इसलिए उसे वर-पक्ष से तीमारदारी तथा दहेज की भारी-भरकम व्यवस्था करनी पड़ती है। जैन धर्म को मानने वालों के लिए तो इस मनोभेद को मिटाना और भी ज्यादा आवश्यक है।

आगम ग्रन्थों में विवाह के विधि-विधान का कोई सवाल ही नहीं है। आज जैन समाज में जो विधि-विधान चल रहा है वह सारी वैदिक-परम्परा की देन है। यज्ञ, होम, सप्तपदी, वेद मंत्रों का उच्चारण आदि बहुत सारी प्रथाएं जैन-विचार के अनुकूल नहीं बैठती हैं। इस दृष्टि से जैन संस्कार विधि नाम से एक विधि इन वर्षों में लोकप्रिय बन रही है। इससे बहुत सारी हिंसक विधियों से बचा जा सकता है। यों जैन श्रावक पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता, पर इस दिशा में जितने कदम उठाये जा सकें, उतना ही श्रेयस्कर हैं। कुछ लोगों ने प्रारंभ में जैन-संस्कार विधि की वैधानिकता के बारे में सवाल उठाये थे, पर अब तो विधिशास्त्रियों द्वारा उसकी वैधानिकता की भी पुष्टि हो चुकी है।

आजकल शादियों के साथ आडम्बरों की भी भरमार है। इस अवसर पर इतनी लाइटिंग की जाती है, इतनी आतिशबाजी होती है कि आदमी देखकर दंग रह जाता है। भला यज्ञ, होम में अग्नि के आरंभ-सभारंभ से बचने की बात करने वाला जैन श्रावक तेजस्काय की निरर्थक हिंसा को क्यों अपने गले बांधे? इस दृष्टि से कुछ नव-सम्पन्नता प्राप्त लोगों को विशेष जागरूक होना जरूरी है।

शादी के नाम पर, आधुनिकता के नाम पर गलियों में नाचना-कूदना भी आजकल एक आम प्रथा बनती जा रही है। यह ठीक है कि नृत्य एक कला है, पर उसका फूहड़ प्रदर्शन गलियों में होता है उसे सभ्यता की कोटि में नहीं रखा जा सकता। पर कठिनाई तो यह है कि अपनी इज्जत-आबरू

के लिए मर मिटने वाला स्त्री-समाज भी आजकल ऐसे बेहूदे नाचों में सम्मिलित होने के लिए गलियों-बाजारों में उतरने लगा है।

निश्चय ही यह सब बाजारू-सा लगता है। फिर नृत्य के साथ-साथ जब मधुमैरेय की बोतलों के ढक्कन खुलने लगते हैं तब तो सारी कुलीनता ही ताक पर चढ़ जाती है। एक जमाना था जब जैन लोग नशे को दूर से ही नमस्कार करते थे। यही कारण था कि उन्होंने भारत के सांस्कृतिक क्षितिज पर अपना स्थान बनाया था। पर आज संसर्ग-दोषों से कुछ ऐसी आदतें जैन समाज में आधुनिकता के नाम पर प्रविष्ट होती जा रही हैं कि जिनसे इस आभिजात्य संस्कृति को बड़ा भारी खतरा पैदा हो गया है। आजकल बहुत सारे हीन माने जाने वाले वर्ग तो नशे से मुक्त हो रहे हैं पर जैन युवक इस ओर बढ़ने में अपनी शान समझते हैं, यह चिंता की बात है।

शादी से संबंधित कुछ अन्य अस्वस्थ प्रथाएं भी प्रचलित हैं। देवतावाद का भी एक जोरदार चक्र है। यद्यपि धीरे-धीरे इन सारी बातों में सुधार हो रहा है, पर सुधार के नाम पर जो अस्वस्थ प्रथाएं प्रवेश कर रही हैं उस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। जहां समाज होता है वहां कुछ रीति-रिवाज, हर्ष, उल्लास स्वाभाविक है। इसीलिए इस संदर्भ में कोई निश्चित लकीर खींची जानी कठिन है। पर इस दुनियां में वही समाज समय के मस्तक पर कुछ ऐसी शुभ्र रेखाएं खींच सकता है जो अपने सांस्कृतिक धरातल को समुन्नत रख पाता है। इस दृष्टि से केवल संकेत ही किया जा सकता है। हो सकता है, कुछ मुक्त विचार वाले लोगों को ये सुझाव रास न आयें पर समाज के कर्णधार लोगों को समय रहते इस दृष्टि से सचेत होना आवश्यक है। जैन समाज अपनी शालीनता की छाप को बराबर बनाये रखे, यही काम्य है।

10. जैन संस्कार और पर्यावरण सुरक्षा

किसी भी विचार की व्यापकता और तलस्पर्शिता का नाभिक बिन्दु यह है कि वह विश्व की सार्वजनीन समस्याओं के बारे में कितना सटीक और स्पष्ट समाधान प्रस्तुत करता है। जैन धर्म की विशिष्टता को भी हम संस्तुतियों में प्रतिष्ठित नहीं कर सकते, अपितु हमें यह बताना होगा कि वह दुनियां की वर्तमान समस्याओं के निराकरण के क्या ठोस और कारगर उपाय सुझाता है? यह सही है कि भगवान् महावीर ने समस्याओं से निपटने के लिए मौलिक विकल्प सुझाये थे। यही कारण है कि अपने युग में उन्हें एक अग्रगामिता प्राप्त हुई थी। पर आज यदि महावीर की कोई महत्ता मान्य हो सकती है, तो इसी आधार पर हो सकती है कि वर्तमान युग के लिए वे कितने प्रासंगिक हैं? कुछ लोग ऐसे हैं जो समस्याओं के फूलपत्तों को छूते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने युग में उनकी यशोदुंदुभी तीव्रता से निनादित होती है, पर ज्योंही वह प्रसंग समाप्त होता है, वे आंखों के सामने से हट जाते हैं। जो लोग जड़ की बात करते हैं उनकी उपयोगिता लंबे समय तक रहती है। यदि हम आज के संदर्भ में महावीर की उपयोगिता को व्यक्त कर सकते हैं तो अवश्य ही जैन धर्म को एक व्यापक आयाम प्राप्त हो सकता है। जैन धर्म चाहे कितना ही महान् क्यों न हो, पर उसकी महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि हम उसे कितने प्रभावी ढंग से व्यक्त कर सकते हैं।

आज की एक बड़ी समस्या है-प्रदूषण। कुछ वर्ष पूर्व तक हमारी दुनियां इस समस्या से परिचित नहीं थी। महावीर के जमाने में भी प्रदूषण जैसा कोई शब्द नहीं था। पर उन्होंने अहिंसा को जो व्यापक आयाम प्रदान किया था, वह एक प्रकार से पर्यावरण की रक्षा का ही एक प्रारूप बन जाता है। यद्यपि हिंसा का अन्य लोगों ने भी विरोध किया है पर इस चिन्तन में

महावीर जितने गहरे गए हैं, उतना कोई नहीं गया। उन्होंने केवल चलने-फिरने वाले जीवों की हिंसा का ही विरोध नहीं किया, अपितु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा का भी तीव्र विरोध किया। महावीर एक अकेले ऐसे सूक्ष्मदर्शी वीतराग पुरुष थे, जिन्होंने पंचभूतों में जीवन-धारा को स्वीकार कर उन्हें कष्ट नहीं देने की तीव्र हिमायत की।

आज प्रदूषण का अर्थ मुख्यतः वन-संहार, जला-भाव या अणु-आयुधों के विस्फोट से ही लिया जाता है। पर महावीर ने उसे बहुत व्यापक आयाम प्रदान किया था। यद्यपि आज भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के दुरुपयोग को प्रदूषण का मुख्य भाग कहा गया है पर इसका सूक्ष्म रूप अगर कहीं उजागर किया गया है तो जैन साहित्य का नाम पहला होगा। जैन साहित्य का पहला आगम 'आयारो' तो एक प्रकार से इसी चर्चा से भरा पड़ा है।

महावीर आरण्यक नहीं थे, पर वे प्रकृति के हितैषी अवश्य थे। उन्होंने मुनि के लिए तो सूक्ष्मतरंग हिंसा का भी निषेध किया है। पृथ्वी की हिंसा के विषय में उन्होंने कहा है—तू देख आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर प्राणियों को पारिताप दे रहे हैं। पृथ्वीकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं। संयमी साधक हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जी रहा है। कुछ साधु-‘हम गृह-त्यागी हैं’ यह निरूपित करते हुए भी, गृहवासी जैसा आचरण करते हैं,—पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं। आज मानव नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी संबंधी क्रिया में व्यापृत होकर पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करता है। वह केवल पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता अपितु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है। पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है। पर वह हिंसा उसके स्वयं के लिए अहित और अबोध का कारण बनती है (आयारो ८-९)।

जल की हिंसा के लिए महावीर आयारो के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में कहते हैं— मुनि जलकायिक जीवों को अकुतोभय बना दे। वह जलकायिक जीवों के अस्तित्व को अस्वीकार न करे और न अपनी आत्मा को

अस्वीकार करे। जो जलकायिक जीवों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा को अस्वीकार करता है। सिद्धांत का प्रामाण्य देकर जलकायिक जीवों की हिंसा करने वाला साधु हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो पाता। जिसके जल संबंधी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा मुनि होता है। (आयारो ३५-६५)

अग्नि हिंसा के लिए वे कहते हैं-जो प्रमत्त है या प्रकाश, ताप आदि अग्नि-गुणों का अर्थी है, वह हिंसक कहलाता है। मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण वियोजन करने पर उसे जैसी कष्टानुभूति होती है वैसे ही अग्निकायिक जीव की होती है। जो अग्निकाय लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। मनुष्य नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि संबंधी क्रिया में व्याप्त होकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है। वह केवल उन अग्निकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता अपितु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है। (आयारो ६६-८९)

वायुकाय-हिंसा के लिए वे कहते हैं-कोई साधक स्वयं वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है। यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं वायु शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से समारंभ न करवाये, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे। (आयारो ३५-६५)

वनस्पतिकाय की हिंसा के विषय में तो उन्होंने बहुत कुछ कहा है। मनुष्य के साथ उसकी तुलना करते हुए उन्होंने कहा- मनुष्य भी जानता है, वनस्पति भी जानती है। मनुष्य भी बढ़ता है, वनस्पति भी बढ़ती है। मनुष्य भी चैतन्ययुक्त है, वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है। मनुष्य भी आहार करता है, वनस्पति भी आहार करती है। मनुष्य भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है, वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है। यह जानकर मेधावी पुरुष स्वयं वनस्पति शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे। त्रसकाय की हिंसा से बचने की प्रेरणा तो जैसे शास्त्रों में पग-पग पर अंकित पड़ी है।

कुल मिलाकर हिंसा का यह सारा निषेध अपने आप पर्यावरण की संरक्षा का महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है। (आयारो ९९-११७)

आज पृथ्वी के खनन तथा रासायनिक खाद के रूप में पृथ्वीकाय की हिंसा, औद्योगिक कचरा तथा मलमूत्र फेंकने के रूप में अप्काय की हिंसा, अणुविस्फोट, औद्योगिक तथा यातायातिक ईंधन के ज्वलन से समुत्पन्न विषैली गैसों के रूप में तेजस्काय की हिंसा, कोलाहल के रूप में वायुकायिक की हिंसा, वन विनाश के रूप में वनस्पतिकाय की हिंसा, जंगली जावनों तथा मछलियों के शिकार के रूप में त्रसकाय की हिंसा जो कहर ढ़हा रही है, इससे सभी परिचित हैं। इकोलोजिस्ट के सम्पादक एडवर्ड गोल्डस्मिथ का कहना है “वनस्पति के विनाश के साथ-साथ तीसरा महायुद्ध शुरू हो गया है। यह युद्ध मनुष्य का मनुष्य के विरुद्ध नहीं अपितु प्रकृति के विरुद्ध है। अफ्रीका अब मौत के निकट है, भारत, श्रीलंका, मलेशिया, अमेरिका आदि अन्य देशों में भी यह युद्ध पहुंच गया है। यदि इस पर नियंत्रण नहीं किया गया तो पूरी दुनियां प्रदूषण से तबाह हो जायेगी। धरती पर हिमयुग के बाद यह सबसे बड़ी विपदा है। मानवनिर्मित परिस्थिति-गत ध्वंश और सभ्यता के बाद यह दूसरे नम्बर का खतरा है।” एक जैन श्रावक जब सम्यक्त्व दीक्षा (गुरुधारणा) ग्रहण करता है तो उसे यह नियम दिलाया जाता है कि वह किसी बड़े वृक्ष को नहीं काटेगा। सचमुच में यह वन संपदा के संरक्षण का महत्त्वपूर्ण पहलू है। जैन श्रावक को यदि दातौन के लिए एक डाली की जरूरत होती है तो वह दूसरी डाली नहीं तोड़ता। बिना मतलब वह हरियाली पर पैर नहीं रखता, बल्कि बहुत सारे लोग हरियाली पर खाना खाने में भी संयम बरतते हैं। अमुक अमुक तिथियों को तो वे हरियाली बिल्कुल नहीं खाते। पानी की एक बूंद का भी निरर्थक उपयोग नहीं करते। मलमूत्र को भी प्रदूषणकारक तरीके से नहीं छोड़ते। सचमुच! ये सारे व्रत-नियम अन्धरूढ़ी नहीं हैं अपितु ये अनायास ही प्रदूषण को रोकने के व्रत-नियम बन जाते हैं। आवश्यकता है हमारे लोग इस सत्य को समझें और सबसे बड़े इकोलोजिस्ट भगवान् महावीर द्वारा प्रसारित विश्वमान्य सिद्धांतों से दुनियां को परिचित करायें। जैन संस्कृति जीवन के पौर-पौर में समायी हुई है, उसे जीवन में उतारना और उजागर करना हम लोगों का धर्म है, कर्तव्य है।

11. उपभोक्तावाद का मानक क्या ?

उपभोक्तावाद हमारे युग की प्रगतिशीलता का एक मानक बन गया है। आज वही आदमी ज्यादा बड़ा माना जाता है जो ज्यादा से ज्यादा उपभोग सामग्री जुटा सकता है। एक जमाना था जब आदमी के बड़प्पन का मापक-अंक संयम था, पर आज उपभोक्तावाद ने वह आसन छीन लिया है। सादगी और संयम से रहना पिछड़ेपन की निशानी बन गई है। जब आदमी यह कहता है कि मेरे पास इतने बंगले हैं, इतनी कारें हैं, कल-कारखाने हैं तो उसे गौरव होता है। जिसके पास में ये सब नहीं होते, वह अपने आपको दीन-हीन मानता है। यद्यपि आज सभी समता की बात करते हैं लेकिन मन में अपने आपकी ऊंचाई का एक मानदंड बना हुआ है।

सम्पन्न आदमी ही नहीं, गरीब आदमी भी उसी ओर बढ़ना चाहता है। खाने-पीने, रहने-सहने, पहनने-ओढ़ने आदि सभी में ज्यादा से ज्यादा वस्तुओं का इस्तेमाल शान की बात समझी जाती है। महिलाएं तो शायद इस मामले में पहले ही आगे बढ़ी हुई थीं, पर आज श्रृंगार और फैशन के युग में तो न जाने वे कहां की कहां उड़ी जा रही हैं। न केवल कपड़े अपितु जेवर, जूते यहां तक की नेलपॉलिश, शेड-शायनिंग आदि के इतने प्रकार निकल गए हैं कि पूरा बाथरूम एक प्रदर्शनी बन जाता है।

पुरुष भी आज इस दौड़ में अच्छे दौड़ने लगे हैं। हर समय की अलग ड्रेस, हर अवसर की अलग पोशाक, मेचिंग का एक अलग झगड़ा, और नित नये निकलने वाले साधन-प्रसाधन। रेडिया, टी. वी. और अखबारों ने उपभोक्तावाद के बाजार को बहुत गर्म कर दिया है। बच्चों को भी नित नये साधन चाहिए। कुछ विकसित देशों में तो बात यहां तक बढ़ गई है कि जो ड्रेस एक बार पहन ली गई, वह बस खत्म। धोने-सहेजने का

कोई सवाल ही नहीं। ऐसे युग में संयम की बात करना ही जैसे गुनाह हो गया है।

औद्योगिक सभ्यता और आर्थिक विकास इसी असंयम की उपज है। पर जब हम इसके परिणाम पर नजर दौड़ाते हैं तो यह समझते देर नहीं लगती कि क्रूरता तथा प्रदूषण इस उपभोक्तावादी संस्कृति के ही अवशेष हैं। अपनी भोगवृत्ति के लिए मनुष्य आज इतना नृशंस हो गया है कि अनेक जीव-जातियां तो नष्ट हो गई हैं या नष्ट होने के कगार तक पहुंच गई हैं।

प्राकृतिक परिवेश अर्थात् वन-वैभव भी दिनोंदिन क्षीण होता जा रहा है। प्रायः यह समझा जाता है कि वनों का विनाश गरीब लोग कराते हैं। वे वनों को काटकर और जलाकर खेती का विस्तार कर रहे हैं, पर तथ्य इसके विपरीत है। वास्तव में वनों के विनाश में सबसे बड़ा योगदान औद्योगिक सभ्यता और आर्थिक विकास का रहा है। यह विश्वास है कि आर्थिक विकास तथा तकनीकी और औद्योगिक विकास से स्वर्ग को धरती पर उतारा जा सकता है, आज धरती पर मौत का निमंत्रण बन गया है। यह सही है कि विज्ञान और तकनीकी विकास से मानव बहुत कुछ लाभान्वित हो सकता है। उससे सुविधाओं का अम्बार लगता है, पर वह प्राकृतिक जगत् से मिलने वाले वास्तविक लाभों तथा पारिवारिक तथा सामुदायिक जीवन, उपजाऊ मिट्टी, पर्याप्त और स्वच्छ जल तथा अनुकूल जलवायु से वंचित होता जा रहा है। आस्ट्रिया की फ्रेडा ब्लाक ने कहा है कि औद्योगिक उत्पादन और उसके उपभोग से उत्पन्न होने के कुप्रभावों से पर्यावरणीय तबाही तो हुई ही है पर उससे गरीब देशों का निर्मम शोषण भी हुआ है। भले ही यह बाहरी चमक-दमक आदमी को गर्वित करती है, पर उसके कुप्रभावों से भी बचा नहीं जा सकता। बल्कि वह मनुष्य के अपने स्वास्थ्य के लिए भी घातक बनती है। यदि आदमी संयम से चले तो वह वैज्ञानिक उपलब्धियों से बहुत कुछ लाभान्वित हो सकता है। भले ही आज आदमी के पास भोग के अम्बार खड़े हैं, पर उसकी मानसिक तथा शारीरिक शांति भी हवा होती जा रही है। जिन देशों में भोगोपभोग के साधन ज्यादा विकसित हुए हैं, वहां आदमी ज्यादा अशांत बना है। आज भी उन क्षेत्रों के लोग लम्बा आयुष्य

तथा शांतिपूर्ण जीवन जीते हैं जो भोगों के पीछे नहीं दौड़कर अपना जीवन संयमपूर्वक व्यतीत करते हैं।

ऐसी स्थिति में हमें भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट भोगोपभोग-विरमण व्रत की उपयोगिता अपने आपमें समझ में आती है। श्रावक के बारह व्रतों में भगवान् महावीर ने जिस जीवन-शैली को रेखांकित किया है, वह बहुत सारी आधुनिक समस्याओं का एक समाधान बन सकता है। उन्होंने भोगोपभोग व्रत में २६ व्रत तथा व्यापार के लिए १५ कर्मादान का जो विश्लेषण किया है, वह आज की भोगप्रधान औद्योगिक सभ्यता के युग में एक निदर्शन बन जाता है। इससे आत्म-संयम तो होता ही है, राष्ट्र और समाज की आर्थिक-नैतिक समस्या भी हल हो जाती है। औद्योगिक विकास से जो बेकारी बढ़ती है, उसमें भी अन्तर आ जाता है। उक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि एक सामान्य आदमी सबकुछ त्याग दे, पर यदि वह अपनी आवश्यकताओं पर एक सीमा भी लगाता है तो न केवल अपने असंतोष पर रोक लगाता है अपितु समाज-व्यवस्था को भी बहुत बड़ा बल मिलता है। उपभोग-परिभोग-विरमणव्रत का एक लम्बा-चौड़ा विस्तार है। यह शायद भगवान् महावीर की अपनी एक अनूठी सूझ है। यदि जैन लोग उसे अपने जीवन में मूर्तिमान् कर सकें तो न केवल उनका जैनत्व ऊर्जस्वित होगा अपितु पूरी दुनियां को महावीर के संदेश की सार्थकता का परिचय मिलेगा। यह एक ऐसी उपलब्धि है जिससे जैन संस्कार की पग-पग पर उपयोगिता को स्पष्ट समझा जा सकता है।

12. नशे का फैलाव कितना घातक

जैन लोगों के उन्नत आचार और विचार का यदि विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि उसका मुख्य कारण है-व्यसन-मुक्त जीवन। प्राकृत साहित्य में तो व्यसन का अर्थ ही दुःख किया गया है। व्यसनी आदमी जान-बूझकर दुःखों को आमन्त्रित करता है। जैनाचार्यों ने सप्त कुव्यसनों पर जोरदार प्रहार किया है। इसी का प्रभाव है कि इस धर्म को मानने वाले लोग व्यसनों से काफी दूर हैं।

यदि हम नशे पर ही विचार करें तो पता चलेगा कि आज की हमारी दुनियां की यह समस्या नंबर एक है। वैसे तो सभी देश इससे आक्रांत है, पर एशिया में नशीली दवाओं का सेवन लगातार बढ़ रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के एक अनुमान के अनुसार अकेले भारत में इस समय लाखों-करोड़ों लोग नशीले पदार्थ का सेवन करते हैं। संगठन का कहना है कि सातवें दशक के शुरू में एशियाई महाद्वीप में नशीली दवाओं का व्यापार नहीं के बराबर था, लेकिन आज यह व्यापक स्तर पर फैल रहा है। भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, नेपाल, इण्डोनेशिया, मलेशिया और थाइलैंड में यह व्यापार बहुत द्रुतगति से बढ़ रहा है। पाकिस्तान में छह वर्षों पहले केवल कुछ सौ व्यक्ति ही इस लत के शिकार थे, पर आज वहां उनकी संख्या लाखों तक पहुंच गई है। लंका में भी नशीले पदार्थों के सेवन के कुछ ही मामले प्रकाश में आते थे, लेकिन आज वहां हजारों लोग इसके चुंगल में हैं। इसी प्रकार नेपाल में हजारों, इण्डोनेशिया में लाखों, थाइलैंड में लाखों तथा बंगलादेश में लाखों लोग नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं।

लाओस, बर्मा और थाइलैंड के ७५,००० वर्गमील के गोल्डन ट्राइएंगल क्षेत्र में हर वर्ष ५०० से ८०० टन अफीम का उत्पादन होता है। ये

सारे आंकड़े इस बात की सूचना करते हैं कि एशिया में नशे की आदत तेजी से बढ़ रही है। यद्यपि भारत में अफीम की खेती नियंत्रित है तथा यहां पैदा होने वाली अफीम का ६० प्रतिशत भाग दवा बनाने के काम में आता है, पर आस-पास के देशों से आने वाली नशीली दवाओं से बचना मुश्किल है। फिर यहां भी तो चोरी-छिपे खेती करने वाले लोगों की कमी नहीं है। इसलिये यहां भी नशीली दवाओं के आंकड़े द्रुत गति से बढ़ रहे हैं। यूरोप के देशों में भी यह समस्या कम नहीं है।

प्रारंभ में नशे को विशेष रूप से शराब के रूप में पहचाना जाता था। थोड़े बहुत लोग अफीम भी खाते थे। पर आज तो इतनी तेज दवाओं का आविष्कार हो गया है कि जो आदमी एक बार इसके चक्कर में फंस जाता है, वह फिर फंसता ही चला जाता है। थ्रिल की चाह से आज पूरी दुनियां का युवक हेरोइन, मक्सिकन, कैक्ट्स, मेथा मफडाइन, टेमिस, कोकीन, गांजा तथा नारकोटिक ड्रग्स, पैथेड्रिन, बारबिचुरेट्स, ट्रेक्रिलाइजर्स आदि अत्यन्त घातक दवाइयों के चक्रव्यूह में फंस गया है। यद्यपि दुनियां की आज अनेक समस्याएं हैं, पर नशा आज दुनियां की नम्बर एक समस्या है। दुनियां के बड़े-बड़े देशों के मुखिया लोग जब आपस में चर्चा करने बैठते हैं तो अनेक समस्याएं सामने आती हैं। पर नशे की समस्या पर सबसे पहली समस्या के रूप में विचार किया जाता है। तस्करी के रूप में इस व्यापार ने हर राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था पर तो आघात किया ही है, पर युवकों के चरित्र पर विशेष रूप से आघात किया है। नशे की इन दवाओं के कारण आज अपराधों की संख्या में भारी वृद्धि हो रही है। इसलिए इसकी रोकथाम के लिए अमेरिका जैसे देश भी करोड़ों-करोड़ों रूपयों का बजट निर्धारित करते हैं।

प्रारंभ में यह आदत बहुत सहज में लग जाती है। आजकल स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय परिसर इसके मुख्य अंडे हैं। कुछ असामाजिक तत्व भी बच्चों को एक बार इनकी चाह जगा देते हैं। फिर तो वह आदत ऐसी गम्भीर रूप धारण कर लेती है कि बच्चे चोरी-डकैती तक के कार्य सीख जाते हैं।

कुछ लड़कियां तो अपने चरित्र को बेचकर इस आदत का सेवन करती हैं। यहां तक की उनका पारिवारिक जीवन भी विघटित हो जाता है। श्रम-संगठन की विज्ञप्ति में बताया गया है कि कुछ एशियाई देशों में इस धंधे को रोकने के लिए जो प्रभावशाली कदम उठाये गये हैं, उनका भी बहुत अधिक असर नहीं हो रहा है। मलेशिया में इस धंधे में लिस लोगों को फांसी की सजा दी जाती थी। फिर भी वहां लोग नशीले पदार्थों का सेवन करते थे।

नशा करने वालों में सबसे ज्यादा संख्या शराबियों की है। उसके बाद नम्बर आता है सुल्फा, भांग, गांजा, अफीम आदि का। परन्तु कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले नशेबाज युवक-युवतियां अधिकांशतः नशीली दवाओं के चक्कर में पड़े रहते हैं। इसके लिए मुख्यतः मेथाकोलोन गोलियों का प्रयोग किया जाता है। अब तो इसके भिन्न-भिन्न रूप भी प्रचलित हो गये हैं। दो-तीन से शुरू होकर ये गोलियां पन्द्रह-बीस तक पहुंच जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि युवावस्था में हाथ-पांव कांपने लगते हैं और मस्तिष्क नियंत्रण से बाहर हो जाता है। कुछ लोग इस दृष्टि से मुख्य रूप से पेथाडीन, मारफीन जैसे इन्जेक्सन के चक्कर में भी पड़ जाते हैं, बल्कि जब नशे की आदत ज्यादा हो जाती है तो सर्पदंश तक भी पहुंच जाती है। शुरू-शुरू में इससे थोड़ी ताजगी महसूस होती है। दुनियां बड़ी रंगीन दिखाई देती है। फिर धीरे-धीरे न केवल आदमी को अपराध की ओर ही अग्रसर करती है अपितु उसके अपने स्वास्थ्य को भी चौपट कर देती है। जो लोग इस आदत के वश में हो जाते हैं उनका स्वास्थ्य बिल्कुल बिगड़ जाता है। आये दिन इस तरह के समाचार मिलते रहते हैं कि आदत से ग्रस्त लोगों को सिवाय नशे के और कुछ सूझता ही नहीं। उनकी चिंतन शक्ति क्षीण हो जाती है। शरीर कमजोर हो जाता है हमेशा बुखार रहने लगता है और अन्ततः वे मृत्यु के मुख में चले जाते हैं।

इसलिए यह आवश्यक है कि प्रारंभ से ही बच्चों को इस बुराई से बचाया जाये। यद्यपि जैन समाज में अपेक्षाकृत यह बुराई कम है पर फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि आज यह समाज भी इससे बिल्कुल

बचा हुआ है। खासकर सामासिक संस्कृति के इस युग में तथा स्कूल, होस्टल संस्कृति के जरिये यह बुराई अनजाने में इस तरह प्रवेश कर जाती है कि फिर छूटनी कठिन हो जाती है। इसलिए कॉलेजों में कहीं-कहीं तो ५० प्रतिशत से ज्यादा लड़के इसके चुंगल में फंसे हुए मिले हैं। न केवल लड़कों अपितु लड़कियों में भी इस बुराई ने प्रवेश कर लिया है। पश्चिम की नकल के कारण छात्राएं इसकी विशेष रूप से शिकार हो रही हैं। दिल्ली सामाजिक विकास परिषद् द्वारा किए गए सर्वेक्षण से पता चलता है कि जहां केवल लड़कियों के कॉलेजों में शराब व बीयर पीने वाली छात्राओं का प्रतिशत ११.६ है, वहां सहशिक्षा वाले कॉलेजों में उनका प्रतिशत २१.२ है। परिषद् ने यह मत व्यक्त किया है कि सम्पन्न घरानों की लड़कियों में यह प्रतिशत ज्यादा है। अभिभावकों को इस बात का पता भी नहीं चलता, इतने में नशे की आदत अपना स्थायी आकार ग्रहण कर लेती है।

आवश्यकता है जैन समाज न केवल नशा मुक्ति की, अपनी पारम्परिक आचार-श्रेष्ठता को कायम रखे, अपितु अन्य लोगों को भी इससे मुक्त करें। सरकार इस दृष्टि से कुछ प्रचार कर रही है, इस बीमारी से ग्रसित लोगों के शारीरिक उपचार की भी कुछ व्यवस्थाएं हो रही हैं, पर वास्तव में संस्कारों का दृढ़ीकरण ही इस समस्या का स्थायी समाधान है। जैन समाज के अभिभावकों को आज सावधान होने का अवसर आ गया है कि वे देखें कि कहीं उनके बच्चे इस व्याधि की चपेट में तो नहीं आ गए हैं। इस दृष्टि से साधु-संतों का संपर्क भी एक विशेष बात बन सकती है। प्रेक्षाध्यान से भी न केवल इस प्रकार की बुराइयों से मुक्ति मिल सकती है अपितु नशीली औषधियों से जो अनुभूतियां होती हैं उन्हें ध्यान के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। इसलिये योग के आचार्यों ने ध्यान की अनुभूतियों का जो वर्णन किया है उस ओर पश्चिम के लोगों का भी ध्यान जा रहा है। इस दृष्टि से सावधानी ही सबसे बड़ा उपाय है। यदि जैन लोग अपनी इस परम्परागत संस्कृति की रक्षा कर सकें तो अपनी उन्नति को एक नया आकार प्रदान कर सकते हैं। अपेक्षा है समय से पहले जागने की।

13. मांसाहार वर्जन : जैनत्व की पहचान

जैन धर्म का अपना एक उज्ज्वल इतिहास है। आज ओसवाल जाति तो एक प्रकार से जैन धर्म का एक पर्याय ही बन गई है। यद्यपि जैन धर्म में जाति-पांति का कोई भेद नहीं है, पर यह सत्य है कि जैन लोगों का बहुत बड़ा भाग ओसवालों से ही आकीर्ण है। यदि हम ओसवालों के इतिहास का अवलोकन करें तो पता चलेगा कि यह जाति भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ग-वर्ण के लोगों को मिलाकर बनी है। समर्थ जैनाचार्यों ने समय-समय पर अनेक वर्गों के खान-पान में सुधारकर उन्हें जैन धर्म में दीक्षित किया था। राठौड़, परमार, चंडालिया, सोलंकी आदि जातियां अपने नाम से ही अपने प्राचीन जातीय परिवेश की ओर संकेत कर रही हैं। यद्यपि देव, गुरु और धर्म की सही समझ भी जाति-परिवर्तन का एक आधार रही है, पर इतनी सूक्ष्मता तक पहुंचने वाले लोग तो बहुत ही थोड़े होते हैं। ज्यादातर लोगों ने तो अपने खान-पान को विशुद्धता प्रदान की और अपने आपको जैन धर्म में दीक्षित कर लिया। इतिहास साक्षी है कुछ प्रभावशाली लोगों की पहल से उनके आश्रितों या प्रभाव में रहने वाले लोगों ने थोक भाव में जैन धर्म को स्वीकार कर लिया। कुछ भी हो, पर यह निश्चत है कि खान-पान की विशुद्धि जैन लोगों को एक विशिष्ट प्रकार की संस्कारिता प्रदान करती रही है। आज ऐसे जैन कम ही मिलते हैं जो मद्य-मांस का व्यवहार करते हों। यद्यपि संपर्क क्षेत्र की व्यापकता के कारण आज कुछ ओसवाल नवयुवक भी अपनी इस मूलप्रतिबद्धता से हट रहे हैं, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि खानपान की विशुद्धि ने इस जाति को एक अतिशय आध्यात्मिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं आर्थिक उच्चता प्रदान की है।

आज मांसाहार पर अनेक तरह के प्रयोग हो रहे हैं। वैज्ञानिक खोजों ने

यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य शरीर के लिए मांसाहार हानिकारक है। शाकाहार में तंतुमय पदार्थ अधिक होते हैं, उनसे पेट को साफ रहने में मदद मिलती है। शरीर के विषाक्त पदार्थ उनके सहारे बाहर निकल आते हैं। जब भी आहार में तंतुमय पदार्थों की कमी होती है, बड़ी आंत का कैंसर तथा अन्य बीमारियां होने की संभावना रहती है।

सभी प्राणियों के शरीर में विषैले पदार्थ होते हैं। वे मल-मूत्र द्वारा ही शरीर से बाहर निकल सकते हैं। जब कोई जानवर मारा जाता है और उसके मांस में ऐसे पदार्थ रह जाते हैं तो उनके बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं रह जाता। हृदय की गति बंद होने के बाद शरीर के सारे अवयव पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाते हैं। अतः मृत जानवरों के मांस में विषैले पदार्थ भारी मात्रा में जमा रह जाते हैं। जो व्यक्ति उसे खाता है, सहज ही वह सारा विषैला तत्व उसके शरीर में पहुंच जाता है।

जिन जानवरों को मारा जाता है उन्हें हार्मोन्स एंटीबायोटिक्स और इसी प्रकार की अन्य औषधियां तथा जंतु नाशक दवाइयां निश्चय रूप से दी जाती हैं। जो व्यक्ति मांसाहार करता है, उसके शरीर में ये जहरीले पदार्थ जमा हो जाते हैं। गायों और जानवरों को मोटा ताजा बनाने के लिए बी० ई० सी० नाम की दवाई दी जाती है। इससे उनके मांस को खाने से कैंसर की संभावना बताई गई है। जिन स्त्रियों को आज से २५ वर्ष पूर्व बी० ई० सी० की औषधि दी गई थी, उनमें तथा उनकी पुत्रियों तक में कैंसर का प्रमाण अधिक पाया जाता है।

प्राणियों की चर्बी और रक्त में कोलेस्ट्रॉल का परिमाण अधिक होता है। उससे आंतड़ियों, स्तनों तथा गर्भाशय के रोग तथा हृदय-विकार जैसे रोग होने की संभावना अधिक रहती है। प्राणियों के प्रोटीन में फोस्फोरस का परिमाण अधिक होता है। इससे मनुष्य के केलशियम तथा फोस्फोरस का संतुलन बिगड़ता है।

मांसाहार पाचन-संस्थान को खराब करता है, क्योंकि वह मुंह की सारी प्रक्रिया को आर्गेनिक अम्ल में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार वह अपने काम में सक्षम नहीं हो पाता।

अमेरिकन सिनेटर्स की समिति ने “आहार विषयक अमेरिका का ध्येय” विषय में अपनी रिपोर्ट में कहा है- मांसाहार से हृदय-विकार तथा कैंसर की संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता। उन देशों में जहां लोग शाकाहार करते हैं वहां कैंसर बहुत कम पाया जाता है। १९७५ में बम्बई में कैंसर रोगियों की संख्या दस हजार में एक थी जबकी इंग्लैंड में ५ प्रतिशत थी। एक सर्वेक्षण के अनुसार मांसाहार करने वाले २५ देशों में से १९ देशों की मृत्यु संख्या बहुत ऊंची है। १५ देशों में मृत्यु संख्या मध्यम है। केवल एक देश की मृत्यु संख्या कम है।

मांसाहारी लोगों का पेशाब प्रायः तेजाबयुक्त होता है। इस कारण शरीर के रक्त में पेशाब और क्षार का अनुपात ठीक रखने के लिए हड्डियों में से क्षार के नमक खून में मिलते रहते हैं। इसके विपरीत शाकाहारियों का पेशाब क्षार वाला होता है। इसलिये उनकी हड्डियों का सारा खून नहीं आता और हड्डियां मजबूत रहती हैं। एलिंग जोन्स ने अपनी पुस्तक ‘कैंसर’ (पृ० २०/२१) में लिखा है-मांसाहार कैंसर का प्रमुख कारण है।

आंकड़ों का सही दृष्टि से पता लगाया जाये तो अर्थ की दृष्टि से भी एक मांसाहारी १४ शाकाहारियों के बराबर पड़ता है। सूअर का एक किलो मांस १४ किलो शाकाहार से बनता है। सूअर की खुराक १४ आदमियों के बराबर होती है, इस तरह आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार लाभप्रद नहीं है। और आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह न केवल क्रूरता का प्रतीक है अपितु आदमी की वृत्तियों को भी विकृत बनाता है।

मांसाहार वृत्तियों का उत्तेजक है, यह भी मान लिया गया है। जैन समाज में अपराध बहुत कम होते हैं। इसका मुख्य कारण शायद उनका सात्त्विक भोजन ही है। मैं एक बार कोल्हापुर में एक जेल में गया। वहां जेल के अधीक्षक ने बताया कि मैं अनेक जेलों में रहा हूँ पर मैंने देखा है कि वहां जैन लोग बहुत कम आते हैं। इसका शायद यही कारण है कि जैन लोगों का आहार सात्त्विक है। जैन समाज एक सभ्य समाज है, उनकी सभ्यता का मूल कारण शायद उनकी सात्त्विक भोजन व्यवस्था ही है। जैन

समाज को अपनी इस परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए मांसाहार के प्रलोभन से बचना चाहिये।

इस तरह हम देखते हैं कि मांसाहार शारीरिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि सभी दृष्टियों से हानिप्रद है। जैन आचार्यों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही समझ लिया था। यही कारण था कि उन्होंने मांसाहार पर जोरदार प्रहार किया। आज भी उनकी उपयोगिता कम नहीं है। पश्चिम में आज शाकाहार काफी प्रिय बनता जा रहा है। आवश्यकता यही है कि जैन लोग अपनी इस बहुमूल्य थाती की सुरक्षा करें।

14. उपभोक्तावाद या व्रतवाद

भगवान् महावीर संयम के प्रबल प्रवक्ता थे। उन्होंने संयम पर जितना बल दिया है उतना शायद ही किसी महापुरुष ने दिया होगा। कुछ लोगों को लगता है जैसे महावीर जीवन को नीरस बना देते हैं। पर जब हम गहराई में जाकर देखेंगे तो पता लगेगा कि उनका संयम का दृष्टिकोण एक त्रैकालिक सत्य है। जो लोग काल को टुकड़े में तोड़कर देखते हैं उनको लग सकता है कि महावीर की संयम दृष्टि कष्टकर है, पर जब हम सत्य को सकलांश की दृष्टि से देखते हैं तो पता लगता है कि महावीर का विचार एक व्यापक कालजयी विचार है।

बारह व्रतों की व्यवस्था में सातवां व्रत है-भोगोपभोग विरमण व्रत। उस व्रत का बहुत बड़ा विस्तार है। जैन परम्परा में प्रतिदिन चौदह नियम स्मरण करने की एक आम प्रथा है। इस प्रथा के अनुसार प्रतिदिन भोगोपभोग में आने वाली वस्तुओं का परिमाण किया जाता है। पानी के उपयोग के परिमाण का भी उसमें प्रावधान आता है। उसके अन्तर्गत यह नियम लिया जाता है कि आज मैं अमुक परिमाण से ज्यादा पानी का उपयोग नहीं करूंगा। सचमुच! यह बहुत दूरदृष्टि वाली बात है। आज के युग में तो उसकी अर्थवत्ता और भी बढ़ गई है।

यों साधारणतया हमारी पूरी पृथ्वी के २/३ भाग में पानी फैला हुआ है। संसार के ७८ प्रतिशत भाग पर महानगरों का विस्तार है। पर सवाल स्वच्छ पीने योग्य पानी का है। प्रारंभ में दुनियां की जनसंख्या कम व धरती पर पानी के भंडार अधिक थे। इसलिए पीने के पानी की कोई समस्या नहीं थी। पर आज जबकि हम पानी का अंधाधुंध उपयोग कर रहे हैं तो पूरी दुनियां में पीने का पानी एक समस्या बन गया है। वर्षा के अभाव में

भूमिगत जल में निरन्तर कमी आती जा रही है। उसका स्तर बहुत नीचे चला गया है। कई जगह तो जलपूर्ति सप्ताह में एक या दो दिन ही हो पाती है। यदि ऐसा ही रहा तो संभव है अनाज की तरह पानी भी बाहर से बल्कि विदेशों से मंगाना पड़े।

यदि आदमी ने स्वयं अपनी आदतों में संयम नहीं बरता तो पीने के पानी पर भी प्रतिबंध करना पड़ सकता है।

राजस्थान के हजारों गांवों में तो आज भी पीने के पानी की समस्या बहुत भयंकर है। पश्चिम राजस्थान में पानी की गहराई ४००-५०० फुट नीचे तक चली गई है। यदि पानी का इसी तरह दुरुपयोग होता रहा तो वैज्ञानिकों का कहना है कि यह समस्या पूरे संसार की समस्या बन जायेगी। ऐसी हालत में आदमी को गटरों के पानी को पुनः स्वच्छ बनाकर काम में लेने की नौबत आ सकती है। पर यह समस्या का सही समाधान नहीं है।

इस तथ्य को पर्यावरणीय संदर्भ में सोचना आवश्यक है, क्योंकि धरती में पानी के भंडार सीमित हैं जब भी उनका अंधाधुंध तरीके से दोहन किया जाता है तो उसमें कमी आना सहज संभाव्य है।

पुराने जमाने में तो लोगों को अपने सिर पर पानी लाना पड़ता था तो स्वभावतः ही उसके उपयोग में भी सावधानी बरती जाती थी। पर आजकल शहरों में जला पूर्ति के साधन सुगम हो जाने से इतना फालतू पानी बहता रहता है जिसकी कोई हद नहीं है। कुछ लोग कुल्ला करने में भी इतना पानी खर्च कर देते हैं जितने से शायद स्नान भी किया जा सके। स्नान करने में भी बेहिसाब पानी का उपयोग किया जाता है। बल्कि अल्हड़पन के कारण बहुत बार तो नल को ही खुला छोड़ दिया जाता है जिससे पानी व्यर्थ ही बहता रहता है। शहरों की यह आदत आज गांवों में फैलती जा रही है। ज्यादा पानी बहाने को सभ्यता का प्रतीक मान लिया गया है। ज्यादा पानी बहाने से तथा जल निकास की सुव्यवस्था न रहने से गांवों की गलियां कीचड़ से भरी रहती हैं। उससे अनेक प्रकार की बीमारियों के फैलने की भी संभावना बनी रहती है। हमारे यहां कहा जाता था :-

“पानी घणो ढोलो मति, मुंहगो सौदो पानी को,
और सौदो ज्याहीं त्याहीं, ओ सौदो घर हानि को।”

अर्थात् ज्यादा पानी मत बहाओ। यह सौदा बहुत मंहगा है। और सौदे में क्षतिपूर्ति हो सकती है, पर इसमें क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती। असल में जैन दृष्टि के अनुसार पानी के एक बूंद में असंख्य-अनंत जीव माने गये हैं। उनकी हिंसा से बचने के लिए यह आवश्यक है कि उसका दुरुपयोग नहीं किया जाये। जितना आवश्यक हो उतना उपयोग तो करना ही पड़ता है, पर यदि दुरुपयोग को बंद कर दिया जाये तो समस्या काफी हद तक समाहित हो सकती है। पानी के अत्यधिक उपयोग से जल स्तर और अधिक गहराता जा रहा है। यद्यपि वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा भूमिगत जल को प्राप्त करने के लिए नित नये उपकरणों का अविष्कार हो रहा है, पर पृथ्वी पर जब पानी सीमित है और उसका बेहिसाब उपयोग किया जा रहा है उसका क्या इलाज हो सकता है ?

जल स्तर नीचे चले जाने से पेड़ अपना अस्तित्व खोते जा रहे हैं। इस तरह जल का यह दुरुपयोग एक पूरी पर्यावरणीय क्षति है। जब वृक्ष और हरियाली नष्ट हो जायेगी तो वर्षा में भी कमी हो जाना स्वाभाविक है उससे जल स्तर और नीचा होता जायेगा।

ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर का उपभोग-परिभोग-विमरण व्रत वस्तुओं के प्रयोग के प्रति लोगों का ध्यान खींचता है। उपभोग-परिभोग-विमरण व्रत एक व्यापक व्रत है तथा उसकी मूल भावना अविरत निरोध में छिपी हुई है। पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि जागतिक संतुलन के लिए भी उसकी अपनी महार्थ्य मूल्यवत्ता है।

भोगपभोग व्रत का नियम केवल पानी से ही नहीं जुड़ा हुआ है। यह एक व्यापक व्रत है। अग्नि, वनस्पति, मिट्टी तथा पहनने-ओढ़ने के कपड़ों पर संयम करना भी उसमें सम्मिलित है। आज तो एक उपभोक्तावाद पूरी दुनियां में फैल रहा है उससे बचने का इसके सिवाय और कोई विकल्प नहीं है कि आदमी अपनी आवश्यकताओं पर अंकुश लगाये। यदि ऐसा नहीं हो सका तो धरती के सन्तुलन के बिगड़ने की भी संभावना है। महावीर का

व्रत-दर्शन इस अर्थ में एक गहरा जीवन दर्शन है।

असीम उपभोग से न केवल प्राकृतिक भंडार ही निःशेष होते हैं, अपितु कूड़े-कचरे के रूप में गंदगी का जो अपार ढेर छूट जाता है, वह भी हमारी दुनियां की गहन समस्या है। इन सब संदर्भों ने आज इस व्रत को एक नया अर्थ प्रदान कर दिया है।

15. अल्प परिग्रह बनाम महापरिग्रह

अपरिग्रह जैन विचारधारा का महत्त्वपूर्ण शब्द है। बुद्ध ने पांच शीलों में मद्यपान का निषेध कर एक समस्या की ओर ध्यान तो जरूर आकृष्ट किया पर अपरिग्रह का समाज-व्यवस्था की दृष्टि से जितना महत्त्व है उसे वे अंकित नहीं कर पाये। यद्यपि पतंजलि ने भी पांच महाव्रतों में अपरिग्रह को स्थान दिया है, पर इस संदर्भ को महावीर जितना स्पष्ट कर पाये हैं उतना वे भी नहीं कर पाये। इसलिए अपरिग्रह भगवान् महावीर की एक महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

अपरिग्रह का एक अर्थ परिग्रह का पूर्ण अभाव है वहां इसका दूसरा अर्थ अल्पता से भी जुड़ा हुआ है। महावीर महारम्भ और महापरिग्रह पर जोरदार प्रहार करते हैं। वे इन्हें नरक के हेतु बताते हैं। वे महारंभ का मूल ही महापरिग्रह में ही देखते हैं। जब हिंसा तीव्र होती है। तभी परिग्रह में सान्द्रता आती है। ऐसी स्थिति में साधना की दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही, समाज-व्यवस्था की दृष्टि से भी वह निर्विवाद बन जाता है।

अपरिग्रह की इसी भावना को स्पष्ट करते हुए कर्मादान के स्रोतों में पन्द्रह कर्मादानों का महावीर विशेष उल्लेख करते हैं। कर्मादान के अन्तर्गत बहुत सारी बातों पर विवेचन किया जा सकता है। संभवतः इतना सूक्ष्म विश्लेषण बहुत कम जगह पर हुआ होगा। ऐसा लगता है जैसे आज के प्रदूषण के विचार ने उद्योग-धंधो को अहिंसा के जिस सूक्ष्म चिंतन तक पहुंचा दिया है वहां महावीर आज से २६०० वर्ष पूर्व ही पहुंच गए थे। पन्द्रह कर्मादान का सारा विवेचन बहुत विस्तृत हो सकता है। हम यदि कुछ एक कर्मादानों का ही विचार करें तो शायद आज दुनियां के सामने व्यापार

को लेकर जो भारी समस्याएं खड़ी हो गई हैं, उनका कुछ समाधान प्राप्त हो सकता है।

पहला कर्मादान है 'इंगाल कम्मे'। वह व्यापार जिसमें अग्नि का समारंभ हो, वह इस कर्मादान के अन्तर्गत आता है। आज जिन उद्योग-धंधों में ईंधन का जिस तरह उपयोग हो रहा है उससे न केवल जंगल ही निःशेष हो रहे हैं, अपितु ईंधन के भंडार भी निःशेष हो रहे हैं, तथा भंयकर प्रदूषण भी फैल रहा है। यह ठीक है कि वस्तुओं का उत्पादन भी आवश्यक है पर जब आवश्यकता पर संयम नहीं रहता है तो बड़े उद्योग पनपते हैं और उनमें अनाप-शनाप हिंसा-प्रदूषण फैलता है।

दूसरा कर्मादान है 'वण कम्मे'। इसका प्रमुख अर्थ है- लकड़ी का धंधा। इस धंधे ने आज पूरी दुनियां के जंगलों को तो क्षति पहुंचाई ही है, पूरी सभ्यता उससे प्रभावित हो रही है। एक समय के गहन जंगल आज रेगिस्तान बन गए हैं तथा वहां की संस्कृतियां मृत प्रायः हो गई हैं।

जंगलों का नुकसान केवल पेड़-पौधों तथा वनस्पति का ही नुकसान नहीं है अपितु उनके पीछे अनावृष्टि, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदाएं भी खड़ी हो जाती हैं। आज पूरी दुनियां में ५० प्रतिशत से ज्यादा जंगल खत्म हो गए हैं। धंधा ऐसे ही चलता रहा तो न केवल ईंधन ही समाप्त हो जायेगा अपितु हमारी पृथ्वी का अस्तित्व भी संकट में पड़ जायेगा। आज भी हम देखते हैं कि कभी-कभी तो जलाने की लकड़ी अनाज से भी मंहगी हो जाती है। वन संपदा का फर्नीचर, कागज तथा अन्य रासायनिक रूपों में जितना व्यापक ह्रास हो रहा है, वह विनाश को सीधा आमंत्रण है। ऐसी स्थिति में 'वण कम्मे' कर्मादान का अपना विशेष महत्त्व बन जाता है। 'साडी कम्मे', 'भाडी कम्मे', 'फोडीकम्मे' आदि कर्मादान भी जब अनियंत्रित हो जाते हैं तो वे दुनियां पर कहर बरसाने वाले बन जाते हैं।

'दंत वाणिज्जे', 'केशवाणिज्जे', 'रस वाणिज्जे' आदि कर्मादानों के अनियंत्रित प्रयास से आज न केवल अनेक जीव-जातियां नष्ट हो गई हैं अपितु हमारी दुनियां ही अपनी विविधता खोती जा रही है। दांतों के लिए न

केवल दक्षिण अफ्रिका में १० हजार हाथियों का शिकार हुआ, अपितु उनके लिए जलघोड़ों की जाति को भी खतरा पैदा हो गया है।

‘विष वाणिज्जे’ ने तो नशीले पदार्थों तथा दवाओं के रूप में पूरी नौजवान पीढ़ी को तबाह कर दिया है। नशीले पदार्थों की तस्करी ने आज पूरी दुनियां की अर्थ नीति को डंवाडोल बना दिया है।

हथियारों की होड़ पर भारी फौजी खर्च ने न केवल तीसरी दुनियां के देशों को आवश्यक विकास की वित्तीय जरूरतों से वंचित कर दिया है, अपितु राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच एक दुर्लभ्य खाई भी पैदा कर दी है। बताया जाता है कि अभी विश्व में पचास हजार से भी अधिक नाभिकीय हथियार हैं और उनमें हजारों डिलीवरी प्रणाली से सन्नद्ध हैं।

हथियारों के व्यापार में निरन्तर वृद्धि हो रही है। आज तीसरी दुनियां में ऐसी अनेक सरकारें हैं जिन्हें अपनी जनता का बड़ा दुश्मन कहा जा सकता है। ये ऐसे शासक हैं जो अपने नागरिकों के खिलाफ अपने को ही शस्त्रसज्जित कर रहे हैं। कभी-कभी ये देश महाशक्तियों की प्रतिद्वंद्विता में भी फंस जाते हैं।

हथियारों की होड़ के कारण विश्व के सभी देशों के रक्षा बजट में लगातार वृद्धि हो रही है। परिणाम यह होता है कि वहां आर्थिक एवं सामाजिक जरूरतें पिछड़ती जा रही है। निश्चय ही यह खर्च कमजोर राष्ट्रों के अर्थ तंत्र पर एक जबरदस्त आर्थिक बोझ है। इस तरह शस्त्रास्त्रों का व्यापार आज दुनियां की भारी समस्या बन गई है। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर के बताए गए ‘दवग्गि दावणिए कम्मे’ का अपना एक विशेष अर्थ हो जाता है।

केवल अर्थ की दृष्टि से बात करने वाले लोग महापरिग्रह को ही महत्त्व देते हैं। उनका यही लक्ष्य रहता है कि गरीब लोगों से ज्यादा से ज्यादा पैसा खींचा जाए। इसके लिए उनके पैर अपने आप महारंभ की दिशा में आगे बढ़ जाते हैं। कुछ लोग जैन लोगों पर यह आरोप भी करते हैं कि अपनी अहिंसा की दुहाई के कारण यह समाज उद्योगों के क्षेत्र में पिछड़

गया है। यह एक सच्चाई भी हो सकती है, पर दुनियां के व्यापक स्वार्थ की दृष्टि से देखा जाये तो भगवान् महावीर के पन्द्रह कर्मादानों की तथा अल्पपरिग्रह की बात ज्यादा सार्थक लगती है।

हमारी वर्तमान दुनियां में परिग्रह में मार्क्स ने बहुत सूक्ष्म चिंतन किया। पूंजीवाद के विरुद्ध उन्होंने साम्यवाद के रूप में सर्वहारा वर्ग का समर्थन किया था। पर साम्यवाद न तो दुनियां के तनाव को हटा सका और न स्वयं भी आज अपनी मूल धुरी पर कायम रह पा रहा है। गोर्बाचोव के पेरेस्त्रोइका तथा ग्लासनोस्त के अभियान के बाद वहां भी व्यक्तिगत संग्रह के विरोध की आंच मंद पड़ती दृष्टिगत होने लगी है।

महावीर पूंजीवाद के समर्थक नहीं है। पूंजीवाद परिग्रह में समीकरण नहीं बिठा सकता। उस पर अंकुश रखने के लिए अपरिग्रहवाद या संयमवाद ही एकमात्र उपाय है। जब आदमी के मन में व्रत-भाव का उदय होता है तब परिग्रह अपने आप उसके हाथ से खिसक जाता है। अपरिग्रह की अर्थ-व्यवस्था का अभी प्रारूप सामने रखना बाकी है। पर आज जबकि चालू अर्थव्यवस्थाएं अकिंचित्कर साबित हो रही हैं तब व्रत की इस व्यवस्था के बारे में एक नई आशा का उदय हुआ है। यदि दुनियां में स्थायी शान्ति के विकल्प को प्रस्थापित-प्रतिष्ठापित करना है तो इसके सिवाय और कोई विकल्प नहीं है कि जैन धर्म के अल्प परिग्रह के विचार-संस्कार को मूल्यवत्ता प्रदान की जाए।

इस दृष्टि से आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा लिखित “**महावीर का अर्थशास्त्र**” ग्रन्थ एक अत्यंत मननीय ग्रन्थ है।

बड़े उद्योगों से कुछ लोग महापरिग्रही बन जाते हैं तो कुछ लोग बेरोजगार रह जाते हैं। महापरिग्रह जहां एक ओर विलासिता की ओर ले जाते हैं वहां दूसरी ओर गरीब लोगों में भूखमरी बढ़ाने में निमित्त बन जाते हैं। इसलिए बड़े उद्योग न केवल प्रदूषण की दृष्टि से ही कठिनाई पैदा करते हैं। अपितु समाज-व्यवस्था के लिए भी संकट बन जाते हैं। इसलिए जैन संस्कृति में महापरिग्रह के स्थान पर अल्पपरिग्रह को महत्त्व दिया गया है।

महापरिग्रह का एक रूप अर्थ संसाधनों के स्वामित्व के साथ जुड़ा

हुआ है तो दूसरी ओर अर्थ लालसा से भी जुड़ा हुआ है। कुछ लोगों के पास अर्थ की प्रचुरता होते हुए भी उनमें परिग्रह के प्रति आसक्ति नहीं होती। कुछ लोगों के पास अर्थाभाव होने के साथ-साथ अर्थ के प्रति प्रबल लालसा होती है तो वे भावना से महापरिग्रही बन जाते हैं। महावीर के अनुसार दोनों ही दृष्टियों से अल्पपरिग्रह और महापरिग्रह को समझने की आवश्यकता है।

16. जैन संस्कार : स्वदार संतोष व्रत

आज एड्स से लाखों लोग प्रभावित हैं। यह जानलेवा रोग दुनियां के सौ से अधिक देशों में पहुंच गया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन से जुड़े चिकित्सकों के अनुसार इससे दुनियां के सीमित चिकित्सा-साधनों पर बोझ तो पड़ेगा ही, पर सार्वजनिक स्वास्थ्य की प्रगति में भी बाधा पड़ेगी।

एड्स विषाणुओं के कारण होने वाला ऐसा अचिकित्स्य रोग है जो शरीर की प्राकृतिक सुरक्षा प्रणाली को नष्ट कर देता है। इसके फलस्वरूप शरीर उन अनेक रोगों से बचाव करने में अक्षम हो जाता है जो आदमी के चारों ओर अन्दर-बाहर मंडराते रहते हैं। इसका वाइरस सर्वप्रथम श्वेतरक्त कणिकाओं को नष्ट करने लगता है, जिससे शरीर की प्रतिरोध शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगती है। इसके कारण निमोनिया, कैंसर आदि बीमारियां भी बहुत जल्दी आदमी को दबोच लेती हैं। असल में इस बीमारी की कोई चिकित्सा संभव नहीं है। यद्यपि एड्स का निदान बहुत मुश्किल है, इसकी पुष्टि खून की जांच तथा प्रयोगशाला के परीक्षणों से ही संभव है, पर फिर भी वजन में निरन्तर कमी, रूक-रूक कर होने वाला बुखार, सूजी हुई ग्रंथियां, लगातार पानी जैसे पतले दस्त, रात में पसीना तथा शरीर में और भोजन नली में सफेद दाग या जखम इसके बाहरी संभाव्य लक्षण हैं। जिस व्यक्ति को यह रोग हो जाता है, उसके स्पर्श मात्र से यह संक्रांत नहीं भी होता हो, फिर भी उसका सामाजिक-पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाता है। डॉक्टर लोग इस रोग का मूल कारण तीव्रतम भोगासक्ति को ही मानते हैं। जो लोग यौन-संबंधों को सीमित नहीं रखते, उन पर इसका प्रभाव बहुत संभव है। इसलिये डॉक्टर लोग उच्छृंखल यौन संपर्क के लिए सबको सावधान करते हैं। स्वच्छंद यौन जीवन ने नैतिक मूल्यों को इतना विखंडित

कर दिया है कि आदमी कामुक पगडंडियों पर भटकने लगा है। ब्रिटिश कारागार यूनियन ने यह धमकी दी है कि यदि उन्हें एड्स ग्रसित लोगों की समुचित जानकारी नहीं दी गई तो हम कैदियों को लाना-ले जाना छोड़ देंगे।

डेल्टा एयरलाइन्स ने भी एड्स-ग्रसित व्यक्तियों द्वारा यात्रा करने पर प्रतिबंध लगा दिया है। फायरमैन, एम्बुलैन्स कर्मचारी तथा प्राथमिक चिकित्सा से जुड़े लोग इस बीमारी से ग्रसित लोगों को लाने-ले जाने तथा प्राथमिक चिकित्सा से इन्कार कर रहे हैं। थियेट्रों के सफाई कर्मचारी भी नाटकों के बाद सफाई करने से इन्कार कर रहे हैं। गोदना कलाकार भी इस बीमारी से पीड़ित लोगों को गोदने से इन्कार कर रहे हैं। इससे इस रोग की भीषणता का सहज पता चलता है।

इस संदर्भ में भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट चौथा अणुव्रत एक मूल्यवान् दिशा संकेत बन जाता है। एक गृहस्थ के लिए महाव्रतों का पालन असंभव है, पर यदि वह स्वदार-सन्तोष अणुव्रत का ही पालन कर लेता है तो एड्स जैसी भयंकर व्याधियों से बचा जा सकता है।

आचार्य भिक्षु ने इस व्रत का विवेचन करते हुए बहुत ही मार्मिक शब्दों में कहा है :-

चौथे व्रत इम जान, अबंभतणा पचखान।
देवांगना मनुष्यणीए, त्यागे तिर्यचनी ए॥

(ढाल ४-१)

बले पोतारी नार, तेहनुं करे विचार।
तजे दिन-रात री ए, परणी हाथरी ए।

(ढाल ४-२)

पक्खी आदिक ना नेम, नर तो पाले एम।
मोहिनी परिहरे ए, आत्मा वश करे ए॥

(ढाल ४-३)

उपर्युक्त विधि से जब आदमी अपने पर संयम कर लेता है तो वह वेश्या-गमन, परस्त्री-गमन, अप्राकृतिक यौन सम्बन्ध आदि असामाजिक

अस्वास्थ्यकर विधियों से अपने आप बच जाता है जो एड्स के मुख्य कारण है।

यद्यपि संयम के अनेक आयाम हैं, पर यदि आदमी उपर्युक्त व्रतों का भी पालन करना शुरू कर दे तो उसका जीवन काफी बुराइयों से दूर रह सकता है।

आस्ट्रेलिया के डॉक्टर ऐलेक्स आदि ने एक वक्तव्य में कहा है-
“जिन लोगों में इस बीमारी की सम्भावना अधिक हो, उनको शिक्षित करके उनमें जागरूकता पैदा करने से इस रोग की रोकथाम की दिशा में समुचित कदम उठाया जा सकता है। यद्यपि डॉक्टर लोग टीकों तथा खून देते-लेते समय सावधानी बरतने की बात भी कहते हैं, पर वास्तव में यह रोग आदमी के तीव्र असंयम की ही देन है।

तीव्रतम भोगासक्ति से बचना एक आध्यात्मिक उपदेश तो है ही, पर आज तो इसकी शारीरिक तथा सामाजिक उपयोगिता भी स्पष्ट हो चुकी है। यद्यपि कुछ समय पहले तक इस उपदेश को आत्म-दमन कहकर मखौल उड़ाई जाती थी, पर उच्छृंखल भोगवाद आज विनाश के जिस कगार पर खड़ा है, उससे प्राचीन आध्यात्मिक मूल्यों की प्रासंगिकता पुनः जाग उठी है।

एकपतिव्रत की तथा एकपत्नीव्रत की इस बात का अपना एक सामाजिक मूल्य भी है। जिन देशों में तलाक को या यौन-उच्छृंखलता को स्वतंत्रता का पर्याय माना जाता था या माना जाता है, वहां भी आज यह स्पष्ट हो गया है कि इससे परिवार तो विघटित होता ही है समाज-व्यवस्था भी बिगड़ती है। विघटित परिवारों के बच्चे भी समाज और राष्ट्र के लिए एक समस्या बनते हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि एकपतिव्रत या एकपत्नीव्रत के मानने में आदमी को संयमी होना जरूरी है, पर जहां भी इस संयम में कमी आती है, वहां अनेक तरह की कठिनाइयां भी सामने आती रहती हैं। यूरोप में आज बूढ़े तथा एकाकी माता-पिता एक समस्या बने हुए हैं। शाम के समय ऐसे अनेक उदास लोगों को बगीचों में चिन्ताग्रस्त बैठे देखा जा सकता है। यद्यपि भारतीय समाज-व्यवस्था में संयम की प्रतिष्ठा आवश्यक

मानी गई है, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि पति-पत्नी के सामञ्जस्य पूर्ण व्यवहार के कारण ही यहां परिवार-व्यवस्था कायम रह सकी है। इसमें बुढ़ापे में एक आश्वासन तो मिलता ही है, पर पारिवारिक सन्तुलन में भी सुविधा बनी रहती है।

17. सामायिक : तनाव-मुक्ति का उपाय

तनाव मनुष्य की एक शाश्वत समस्या रही है। यद्यपि आज तनाव जितना गहरा है, उतना तो पूर्व में नहीं रहा होगा, पर फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि वह हर समय आदमी का पीछा करता रहा है। भगवान् महावीर ने भी इस दृष्टि से बहुत गहरा विचार किया है। उन्होंने जीवन में जिस सादगी एवं संयम पर बल दिया है उसका मूल तनाव-मुक्ति में ही खोजा जा सकता है। औद्योगिक क्रांति, शहरी सभ्यता तथा भोगवादी जीवन-शैली ने मनुष्य को इतना तनाव-ग्रस्त बना दिया है कि आज पहले की अपेक्षा शांति की कामना और अधिक गहरी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित सामायिक व्रत की उपयोगिता अपने आप मुखर बन गई है।

यों बारह व्रत की समूची व्यवस्था तनाव-मुक्ति की प्रक्रिया ही है। उन्हें जीवन में उतारने पर आदमी सहज ही शांति को प्राप्त कर सकता है। पर नौवे सामायिक व्रत की आज अपनी एक विशेष उपयोगिता बन गई है। तनाव का मुख्य संबंध मन से है। पर मन भी अनेक स्थितियों-परिस्थितियों से जुड़ा रहता है। एक जमाना था जब आदमी की आवश्यकताएं बहुत सीमित थी। उसकी अधिकांश आवश्यकताएं अपने गांव में ही पूरी हो जाती थी। पर ज्यों-ज्यों उद्योग-धंधों का विकास हुआ, आदमी अपने देश से ही नहीं, पूरी दुनियां से जुड़ गया है। आज एक गांव में बैठा हुआ आदमी भी बहुत सारी चीजों के लिए विदेशी उत्पादों पर निर्भर है। विज्ञापनवादी उपभोक्ता संस्कृति ने उसे ऐसा जकड़ दिया है कि जैसे वह स्वयं ही मशीन का एक पुर्जा बन गया है। कोई शक नहीं कि मशीन ने आदमी के देह-श्रम को काफी हद तक कम किया है, पर साथ ही साथ यह भी सच है कि

उसने मनुष्य को बेहद पराङ्मुख-पंगु भी बना दिया है। वह हर क्षण मशीन की घड़घड़ाहट से घिरा रहता है। एक दिन भी बिजली बंद हो जाये तो ऐसा लगता है जैसे हृदय की धड़कन बंद हो गई है। जब आवश्यकताएं अधिक होती हैं तो उनके लिए अर्जन भी अधिक करना पड़ता है। इस दौड़ में आदमी आज इतना बेतहाशा दौड़ रहा है कि उसकी मानसिक शान्ति चौपट हो गई है।

पहले आदमी गांवों में रहता था तो उसे न केवल खुला वातावरण मिलता था अपितु भीड़-भाड़ भी नहीं होती थी। आज आबादी तो बढ़ ही रही है पर गांव उजड़ रहे हैं और शहरों में अत्यधिक भीड़-भाड़ होती जा रही है। यह ठीक है कि कुछ शहरों में कुछ लोगों को जीने की आवश्यक सुविधाएं मिल जाती है, पर अधिकांश लोग तो छोटी-छोटी दमघोटू, प्रदूषित कोठरियों में जेल की सी जिन्दगी जी रहे हैं। फिर शहरी सभ्यता के नाज-नखरे भी कम नहीं हैं। अपने आपको शहरी सभ्यता में खपाने के लिए उसे कई लबादे ओढ़ने पढ़ते हैं। उससे जीवन इतना अस्वाभाविक हो जाता है कि शान्ति की नींद उचट जाती है। बड़े-बड़े शहरों में यातायात की समस्या भी इतनी उग्र होती है कि उसके साथ तनावों की एक पूरी श्रृंखला जुड़ी हुई है।

फिर भौतिकवादी जीवन-शैली तो और भी ज्यादा कहर बरपा रही है। आज बात केवल आवश्यकता की नहीं रही अपितु इसके साथ दिखावे का ऐसा संदर्भ जुड़ गया है कि आदमी को पग-पग पर संघर्ष करना लाजमी हो गया है। कुछ लोगों को अभ्रकंष महलों के लिपेपुते चेहरों को देखकर लगता है कि वहां बहुत सारा सुख बिखरा हुआ पड़ा है, पर उनकी आन्तरिक व्यथाओं को कोई समझने वाला ही समझता है। विकसित देशों में यह समस्या और भी अधिक जटिल है। यही कारण है कि आज वहां योग-ध्यान की मांग बढ़ती जा रही है। अपनी मानसिक पीड़ा से मुक्त होने के लिए वे बड़ी-बड़ी फीसों देकर भी ध्यान केन्द्रों में जाते हैं। सुना है कहीं-कहीं तो एक-एक घंटा ध्यान की फीस भी हजारों रुपये हो जाती है। यहीं आकर नौवे सामायिक व्रत का महत्त्व अपने आप उजागर हो जाता है।

भौतिक सुख-सुविधाओं के अम्बार के बीच आज इस आध्यात्मिक क्रिया का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इससे आदमी अपने अन्दर नई स्फूर्ति एवं ऊर्जा का अनुभव करने लगता है।

सामायिक का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि मुहूर्त भर के लिए मुखपती बांधकर बैठ जायें। यह तो केवल बाहरी तैयारी है। वास्तव में तो मन, वचन और कर्म का निरोध या सुतंलन ही सामायिक है। यह सही है कि तीन करण और तीन योग से सामायिक कर पाना बहुत कठिन है। इस स्थिति तक तो कोई विरला ही आदमी पहुंच सकता है। पर फिर भी यदि ठीक से अभ्यास किया जाये तो ४८ मिनट के उस कालमान में तन-मन और कर्म के योग को इतना संतुलित-शिथिल किया जा सकता है कि उससे आदमी पूरे दिन तरोताजा बना रह सकता है।

सामायिक की पहली शर्त है- काया की स्थिरता। इसीलिए सामायिक के बत्तीस दोषों में सबसे पहले काया के दोषों का विवेचन किया गया है। जो लोग स्थिर आसन भी नहीं साध सकते, उनका मन संकल्प-विकल्पों से मुक्त हो सके, यह संभव नहीं है। अतः सबसे पहले काया की स्थिरता पर ध्यान दिया जाता है। स्थिरता की इस अवस्थिति में कायोत्सर्ग का एक ऐसा क्षण आता है, जब शरीर का रोआं-रोआं शान्त हो जाता है। असल में शरीर के तनाव मिटे बिना मन के तनाव भी नहीं मिट सकते। अधिकांश मानसिक तनाव का मूल शारीरिक तनाव ही है। विधिपूर्वक की जाने वाली सामायिक में कायिक तनाव सहज ही समाप्त हो जाते हैं। फिर धीरे-धीरे वचन और मन भी शांत होने लग जाते हैं। मन के तनाव भी बहुत जटिल होते हैं। सामायिक से उनसे भी छुटकारा पाया जा सकता है। उससे आदमी की क्षमताओं का विकास होता है, चिड़चिड़ापन मिट जाता है और उसे नवीन उत्साह का अनुभव होने लगता है। जीवन के प्रति उसकी दृष्टि विधायक भावमयी बन जाती है। प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत सामायिक के उस स्वरूप को बहुत ही सुन्दर तरीके से व्याख्यायित किया गया है। यही कारण है कि जो लोग कभी धर्म-ध्यान का नाम सुनना भी पसंद नहीं करते थे, वे आज नित्य नियमित सामायिक करते हैं। आवश्यकता यही है कि सामायिक की पूरी

विधि को समझा जाये। पूणिये श्रावक की एक सामायिक की तुलना में श्रेणिक राजा का पूरा वैभव भी अकिंचित्कर था।

जो लोग सामायिक करते हैं पर उसकी पूरी विधि का अनुगमन नहीं करते, वे उसके पूरे लाभ से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए श्रावकचर्या के अन्तर्गत विधियुक्त सामायिक करना एक आवश्यक दैनिक क्रम माना गया है। आज के युग में जबकि आदमी के चारों ओर तनाव का जबरदस्त ताना-बाना फैल गया है, वह अत्यंत व्यस्त हो गया है, सामायिक उसके लिए एक वरदान साबित हो सकती है। उसकी कार्यक्षमता में भी अभूतपूर्व वृद्धि हो सकती है। यह सही है कि आदमी अब पुनः गुफा मानव नहीं बन सकता। उसे इसी व्यवस्था में जीना है। फिर भी यदि वह सुख से जीना चाहता है तो सामायिक उसके लिए बहुत बड़ा सम्बल बन सकती है। जब आदमी का अभ्यास पक जाता है तब तो वह खाली समय में भी शिथिल होकर न केवल शारीरिक थकान को ही मिटा लेता है अपितु मानसिक उलझनों से भी मुक्त हो सकता है। इसीलिए आज के युग में सामायिक का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

18. क्षमा का संस्कार : मैत्री का विस्तार

जीवन एक सहयात्रा है। साथ-साथ चलते, जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे लग ही जाती है आपस में कोई ठेस-ठोकर। यद्यपि ठोकर लगाना-लगाना इच्छित नहीं होता, पर जब तक आदमी में प्रमाद है, तब तक उससे कोई गलती होना असंभव नहीं है। होता तो यह है कि कभी-कभी आदमी जानबूझकर भी टक्कर लगा देता है, बल्कि टकराहट का यह सिलसिला अनंतकाल से चला आ रहा है। आदमी को एक-दूसरे को टक्कर लगाने में बड़ा रस आता है। पर जब भी आदमी में थोड़ी समझ आती है तो वह जान लेता है कि हर टक्कर उस पर ही लौट कर आती है। यहीं से आदमी की विकास-यात्रा शुरू होती है। इससे पहले तो “ईंट के बदले पत्थर” का प्रयोग होता ही रहता है। यही अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। जब अज्ञान का अंधेरा हटता है तब आदमी सोचने लगता है-

जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।

तोही फूल को फूल है, बांको है तिरशूल।।

“फूल बोने वाले को हमेशा फूल मिलता है तथा कांटा बोने वाले को सदा कांटा मिलता है, बल्कि त्रिशूल मिलता है।”

फिर भी, सावधानी रखते-रखते भी आदमी से गलती हो ही जाती है। जब गलती हो जाती है तो उसका परिणाम भी भोगना पड़ता है। कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं जो गलती से लाभ उठाते हैं, सावधान हो जाते हैं। पर ऐसा तभी होता है जब आदमी को अपनी गलती का अहसास होता है। जिन्हें अपनी गलती का अहसास नहीं होता, उनके परिमार्जन की बात ही नहीं उठती। वे ठोकर पर ठोकर खाते रहते हैं। विकास-यात्रा की शुरूआत यहीं से होती है कि आदमी अपनी गलती को न दुहराए। फिर भी हर

आदमी से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह कोई गलती करे ही नहीं। ऐसी स्थिति में तनाव पैदा होना सहज है। तनाव के क्षणों में आदमी ऐसा कदम उठा लेता है जिससे द्वेष की परम्परा आगे से आगे बढ़ती जाती है।

जैन धर्म में ऐसी स्थिति में क्षमायाचना की सुदृढ़ प्रथा है। आवश्यकता तो यह है कि आदमी से जब भी गलती हो जाए, कोई अप्रिय व्यवहार हो जाए, वह उसी समय संबंधित व्यक्ति से क्षमा मांग ले। ऐसा न भी हो तो सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय यह उच्चारण करता है-

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।

मिन्ति मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ न केणइ।।

“मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, उनके प्रति सहिष्णु बनता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरे प्रति सहिष्णु बनें। मेरी दुनियां के तमाम जीवों के प्रति मैत्री है, किसी के प्रति वैर नहीं है।” न केवल उच्चारण करता है, अपितु हृदय से क्षमायाचना करता है।

क्षमायाचना का यह क्रम निश्चय ही मैत्री की ओर उठता हुआ एक कदम है। इससे टूटे हुए धागे तो जुड़ते ही हैं, आदमी के मन में मैत्री के भाव गहरे होते हैं। यदि आदमी निरन्तर इस पद की अनुप्रेक्षा भी करे तो उसके मन में मैत्री के अंकुर फूट सकते हैं। इससे परस्पर सौहार्द तो बनता ही है, पर जैन परम्परा में तो क्षमा के इस भाव को एक आध्यात्मिक गौरव प्रदान किया गया है। इसीलिए दैनिक प्रतिक्रमण के अलावा पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक अवसर को भी विशेष महत्त्व दिया जाता है। साधु के लिए तो यह अनिवार्य नियम है कि वैमनस्य हो जाने पर वह क्षमायाचना किए बिना मुंह में अन्न-जल भी नहीं ग्रहण कर सकता। पाक्षिक अवसर पर तो उसे क्षमायाचना कर लेना जरूरी है ही। यदि ऐसा नहीं करता है तो उसके साधुत्व में ही संशय पैदा हो जाता है। इसी तरह बारहव्रती श्रावक यदि चातुर्मासिक अवसर पर क्षमायाचना नहीं करता तो उसके श्रावकत्व को खतरा पैदा हो जाता है। यदि कोई बारह महीने अर्थात् सांवत्सरी के अवसर पर भी अपने वैमनस्य की गांठ को नहीं खोलता है तो उसका सम्यक्त्व भी धूमिल हो सकता है। इसीलिए जैन-परम्परा पाक्षिक,

चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक क्षमा-याचना का अपना विशेष महत्त्व है। बल्कि जैन-समाज में यह एक आम प्रथा है कि इन अवसरों पर बहुत सारे लोग परस्पर क्षमा का आदान-प्रदान करते हैं। यह केवल क्षमायाचना ही नहीं है, अपितु खमतखामणा अर्थात् दोनों ओर से उठा हुआ सौमनस्य का एक कदम है खमतखामणा अर्थात् क्षमा लेना भी, देना भी। यह देखा गया है कि कभी-कभी अनजाने में मन की गहराई में बैठी हुई कुण्ठा खमतखामणा के व्यवहार से बाहर निकल आती है।

यह भी संभव है कि खमतखामणा का यह व्यवहार आन्तरिक नहीं होकर केवल शाब्दिक या औपचारिक होता है तो उससे मन की शुद्धि नहीं भी होती। पर यह भी देखा गया है कि खमतखामणा में बहुत बार गहरी गांठें खुल भी जाती हैं। असल में इसे एक अनिवार्य पर्व का रूप मिल जाने के कारण इन अवसरों पर सहज ही आदमी के मन में ऋजुता का भाव पैदा होता ही है। इस संदर्भ में उदयन और चंद्रप्रद्योत की ऐतिहासिक घटना एक प्रबल साक्ष्य है-

घटना इस प्रकार बतायी जाती है कि एक प्रसंग को लेकर उदयन और चंद्रप्रद्योत नामक राजाओं में युद्ध हुआ। उसमें चंद्रप्रद्योत हार गया। उदयन ने उसे बंदी बना लिया। उदयन चंद्रप्रद्योत को लेकर अपनी राजधानी लौट रहा था तो बीच में ही सांवत्सरी का पर्व आ गया। उदयन ने सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कर सभी जीवों से क्षमा मांगी, उस क्रम में उसने चंद्रप्रद्योत से भी क्षमा मांगी, खमतखामणा किया। चंद्रप्रद्योत ने उसके क्षमा-निवेदन पर व्यंग्य करते हुए कहा- तुमने मुझे बंदी तो बना रखा है, फिर खमतखामणा भी करता है, क्या यह खमत-खामणा है? चंद्रप्रद्योत की यह बात उदयन के मन में खटक गई और उसने उसी क्षण चंद्रप्रद्योत को बंधन-मुक्त कर दिया।

ऐसे प्रसंग एक बार नहीं, अनेक बार होते हैं। निश्चय ही ये क्षमा-याचना के महत्त्व का अपने आप दिग्दर्शन बन जाते हैं। सचमुच! वैर का कांटा जब आदमी के मन में रहता है तो उससे न केवल उसका आध्यात्मिक विकास ही रुक जाता है, अपितु शारीरिक क्षतियां भी उठानी

पड़ती हैं। वैर और प्रतिवैर का यह क्रम कभी-कभी तो पीढ़ियों तक संक्रांत हो जाता है। ऐसी स्थिति में जैन धर्म में प्रचलित खमतखामणा की प्रथा अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य बन जाती है। आवश्यकता तो यह है कि इस पर्व को विश्वमैत्री-दिवस का रूप प्रदान किया जाये। यह तभी संभव है, जब जैन लोग संकल्पित होकर इसके महत्त्व को रूपायित करें।

19. अनर्थ हिंसा से बचें

बहुत सारे लोग जैन धर्म के अहिंसा-विचार को अव्यवहारिक कहकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं। उनका मानना है कि त्रस जीवों की हिंसा से बचना भी मुश्किल है, पर स्थावर अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति आदि की हिंसा से बचना तो बहुत ही मुश्किल है। इस कथन में एक आंशिक सच्चाई भी है। इस सच्चाई के आधार पर ही गृहस्थ और मुनि, आगार और अनगार की दो भूमिकाओं का निर्माण हुआ है। मुनि हिंसा से सर्वथा विरत रहने की कोशिश करता है, पर गृहस्थ सर्वथा हिंसा से मुक्त नहीं हो सकता। इस तथ्य का आचार्य भिक्षु ने अपनी बारह व्रत की चौपई में बड़ी कुशलता से विवेचन किया है। उन्होंने कहा है-

वसता गृहस्थावास, हिंसा हुए तास।
आरंभ बिण करे ए, पेट किम भरे ए॥

(ढाल १-३)

सचमुच गृहस्थ के लिए इस प्रकार की अनेक हिंसाओं से बचना मुश्किल है, तब वह कैसे पूर्ण अहिंसा व्रत का पालन कर सकता है? इस स्थिति का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है -

आकुटी ने स्वाम, जीव मारण रो काम।
व्रत छै जानताए, नहीं अजानताए॥

(ढाल १-१०)

इम करवा जीव हणाय, जीव काया जुदा थाय।
हणावां बुद्धि नहीं करी ए, बिण बुद्धि मरी ए॥

(ढाल १-१३)

अतः हिंसा से बचने का एक ही उपाय है कि गृहस्थ अनर्थ हिंसा का परित्याग करे, जान-बूझ कर निरपराध प्राणी की हिंसा न करें। इसीलिए बारह व्रत की व्यवस्था में आठवें अनर्थ-हिंसा-विरमण व्रत का अपना बहुत गहरा महत्त्व है। यदि आदमी अनर्थ-हिंसा से बच जाता है तो भी वह काफी दूर तक अहिंसा के क्षेत्र में विकास कर सकता है।

पाप करे अर्थ अनर्थ कारणे, त्यागे सूझी रीत पिछाण।

अर्थ दंड छोड़णु दोहिलो, जिण अनर्थ रा करे पचखाण।।

(ढाल ९-५)

गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि हिंसा और अहिंसा के भेद को अच्छी तरह से समझकर अनर्थ हिंसा का परित्याग करें। अनर्थ हिंसा के चार प्रकार हैं-

- | | |
|---------------|-----------------|
| १. अपध्यान | २. प्रमादाचरण |
| ३. हिंसकार्पण | ४. पापकर्मोपदेश |

सचमुच अनर्थ हिंसा से इन चारों ही प्रकारों का अपना बहुत बड़ा महत्त्व है। इनके प्रति सजग रहने से आदमी अनेक निरर्थक हिंसक प्रवृत्तियों से बच जाता है।

अपध्यान का अर्थ है-निषेधक विचारों की जकड़। आदमी का ध्यान कहीं न कहीं टिका रहता है। वह यदि अपध्यान होता है तो निश्चय ही आदमी नकारात्मक मनोवृत्ति ये घिर जायेगा।

जो व्यक्ति बिना ही मतलब दूसरों का बुरा चिन्तन करता है इससे दूसरों का तो कुछ बिगड़ता है या नहीं, पर अपना अहित तो कर ही लेता है। यदि आदमी नकारात्मक हिंसा विचार से भी बच जाये, तो उसका जीवन विधायक बन जाता है।

जो व्यक्ति अपध्यान से बच जाता है, वह युद्ध के उन्माद से भी अपने आप बच जाता है। सचमुच युद्ध के उन्माद ने मनुष्य को जितना क्रूर बनाया है, उसकी बात ही रोंगटे खड़े कर देती है। एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों के प्रति जिस क्रूरता से भरे रहते हैं वह अकल्प्य है।

ऐसे हथियार बनाये गये हैं जिनसे पूरी दुनियां को कई बार तबाह किया जा सकता है। अपध्यान के अन्तर्गत इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग में दीन भाव नहीं करना भी शामिल है। आदमी थोड़ी-सी प्रतिकूल परिस्थिति में इतना अधीर हो जाता है कि न केवल कायर ही बन जाता है अपितु आत्महत्या तक के विचार से आक्रांत हो जाता है।

क्रोध, लोभ, भय तथा मोह आदि के कारण दूसरे प्राणी का अहित-चिन्तन भी अपध्यान है। उससे बचने वाला आदमी अपने मनोरंजन के लिए भी न तो पशुओं को परस्पर लड़ाता है, न जानवरों और न मनुष्यों की लड़ाइयां रचता है।

अनर्थ हिंसा का दूसरा प्रकार है-प्रमादाचरण। यह सही है कि गृहस्थ जीवन में जीते हुए आदमी निरर्थक रूप से हंसी-मजाक में भी प्रमादग्रस्त बन जाता है। घी, तेल, मधु, चाशनी आदि के पात्र को खुला छोड़ देना अनायास ही अनेक जीवों के लिए मृत्यु का आमंत्रण बन जाता है। यह भी प्रमादाचरण का ही एक उदाहरण है कि चलने के लिए प्रासुक मार्ग है, पर आदमी अपने प्रमादाचरण के कारण जान-बूझकर हरियाली, पानी आदि पर होकर चलने लगता है। इसी प्रकार तालाब, कुएं, नदी आदि में बिना मतलब कंकर-पत्थर फेंकना भी प्रमादाचरण है। नदी-तालाब आदि में मल-मूत्र त्याग करना, निरर्थक रूप से पेड़-पौधों को नुकसान पहुंचाना, थोड़ी-सी आवश्यकता के लिए बहुत सारी हरियाली तोड़ लेना, बिना मतलब की बत्ती, पंखा आदि को खुला छोड़ देना, इधर-उधर जूठन आदि फेंक देना, निरर्थक रूप से किसी जानवर पर प्रहार कर देना आदि अनेक बातें प्रमादाचरण के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रकार निद्रा, हास्य, विकथा, प्रमाद और आलस्य की अतिशय मात्रा भी प्रमादाचरण का ही अंग है। श्रावक को उससे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

अनर्थ हिंसा का तीसरा प्रकार है हिंसकार्पण। इसका अर्थ है हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र बिना मतलब दूसरों को नहीं देना। जैन धर्म की दृष्टि से तो घट्टी, मशूल आदि भी शस्त्र सीमा में आते हैं। ऐसी स्थिति में विनाशकारी शस्त्रों की तो बात ही दूर है। पहली बात तो यह है कि श्रावक

विनाशकारी शस्त्र अपने पास रखता ही नहीं। यदि सुरक्षा की दृष्टि से रखे भी तो दूसरे को प्रदान करने में बहुत ही ज्यादा सावधानी बरते। रूपचन्द्रजी सेठिया जैसे कुछ श्रावक तो अभी-अभी हुए हैं, जिन्होंने अपनी बंदूक शिकार के लिए नहीं देने के बदले राज्याधिकारियों की क्रूर-दृष्टि सहन कर एक रियासत से दूसरी रियासत में जाकर बसने तक का भी निर्णय कर लिया था। सचमुच ऐसे क्षणों में श्रावक के श्रावकत्व की पहचान होती है।

आज यदि हिंसक शस्त्र न बनें, उनका व्यापार बंद हो जाए तो दुनियां सुख शांति की नई दिशा में प्रस्थान कर सकती है। सचमुच इस दृष्टि से जो शस्त्र सामने आ रहे हैं वे अत्यंत भयंकर हैं।

अनर्थ हिंसा का चौथा प्रकार है-पापकर्मोपदेश। श्रावक को अपने कार्य से कभी-कभी पापाचरण करना पड़ता है पर दूसरों को उसे करने की प्रेरणा देकर वह अपने आपको पाप से क्यों भारी करें? यह एक सूक्ष्म विवेचनीय विषय है। पर अनर्थ हिंसा से बचने का यह महत्त्वपूर्ण उपाय है। इस प्रकार जैन धर्म में अहिंसा के संस्कारों के निर्माण का यह सबल उपाय है।

20. नियमन बनाम संयमन

वह समाज श्रेष्ठ है जो अपने सदस्यों पर कम से कम नियमन करता हो तथा व्यक्ति वही श्रेष्ठ है जो अपने घर पर ज्यादा से ज्यादा संयमन करता है। असल में नियमन और संयमन दो प्रतीक शब्द हैं। अध्यात्म अद्वैत तथा एकाकीपन है। समाज की यात्रा द्वैत-मिथुन से शुरू होती है। परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व उसी दिशा में उठने वाले चरण हैं। यदि आदमी को निर्द्वन्द्व रहना है तो जरूरी है वह अध्यात्म-सेवी बने। भगवान् महावीर ने कहा है-

वरं मे अप्या दंतो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिं य॥

(उत्तरा. १-१६)

अच्छा हो अपने नियमों से हम अपना संकोच करें।

मत ना कोई वध बंधन से, मानवता की शान हरे॥

अपने आप का नियमन ही असली स्वतंत्रता है। जो इस स्वतंत्रता को नहीं भोग सकता, वह समाज-परिवार की शरण में जाता है। निश्चय ही समाज की सदस्यता ग्रहण करना अपने पैर को दूसरे के साथ बांधना है। यह एक ओढ़ी हुई परतंत्रता है। जो आदमी इस परतंत्रता को ओढ़ते हैं वे द्वंद्वो को आमंत्रित करते हैं।

कुछ लोग धर्म और समाज को एक ही मानते हैं। असल में इस विषय पर सापेक्ष दृष्टि से विचार करना होगा। धर्म और अध्यात्म आत्यंतिक रूप से भले ही दो विपरीत ध्रुव क्यों न हों, लेकिन उनका प्रस्थान केन्द्र एक है। इसीलिए भगवान् महावीर ने मुनि और श्रावक दो भिन्न कोटियों का

निर्माण किया है। उनकी भावना को स्थापित करते हुए आचार्य तुलसी ने कहा है-

धन्य है मुनिवर महाव्रत पालते सद्भाव से,
सर्व हिंसा त्यागकर वे जी रहे समभाव से।
है महाव्रत साध्य मेरा किन्तु वह दुःसाध्य है,
पर अणुव्रत मार्ग मध्यम, सरल और सुसाध्य है।।

(श्रा.प्र. अहिंसा व्रत)

मैं सदा आरंभजीवी, मुनि अहिंसा शूर हूँ।
मैं परिग्रह से निरत हूँ, साधु उससे दूर हूँ।।

(श्रा.प्र. यथासंविभाग व्रत)

मुनि महाव्रती है, श्रावक अणुव्रती है। मुनि एकाकी है, श्रावक सामाजिक हैं। यद्यपि महाव्रतियों में भी अनेक कोटियां हैं, अणुव्रतियों में भी अनेक कोटियां हैं। उच्चतम कक्षा में आरूढ़ महाव्रती एकांकिता का आदर्श जिनकल्पी बन जाता है उससे पहले उसे कई कक्षाओं से गुजरना होता है। अणुव्रतियों में भी प्रतिमाधारी अंतिम आदर्श है। उससे पहले उसे कई कोटियों से गुजरना पड़ता है। पर मुनि किसी भी कोटि का क्यों न हों, आखिर वह मुनि है, तथा श्रावक भी किसी कोटि का क्यों न हो आखिर वह श्रावक है। मुनि और श्रावक में दो भिन्न कक्षाएं हैं। पर दोनों परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। मुनि को भी अपनी देह यात्रा को निभाने के लिए समाज की आवश्यकता रहती है तथा श्रावक को भी अपने जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए मुनि के मार्ग दर्शन की आवश्यकता रहती है। इस दृष्टि से ये दोनों भूमिकाएं परस्पर सापेक्ष हैं। बल्कि कुछ अंशों में दोनों एक समरेखा पर प्रस्थित हैं। इसलिए महावीर ने जहां मुनि जीवन का एक पूरा दर्शन दिया है, वहां श्रावक जीवन के लिए भी बारह व्रतों का स्पष्ट निदर्शन किया है।

इसमें कोई शक नहीं कि महावीर एक आत्म-दृष्टि महापुरुष थे। पर उन्होंने देखा कि सब लोगों की क्षमता एक समान नहीं है। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो अपने आप पर पूर्ण संयमन कर लेते हैं, पर सभी लोगों में

सामर्थ्य का इतना विकास नहीं हो सकता, इसलिए उन्होंने श्रावक धर्म को भी एक पूरी की पूरी व्यवस्था दी। पर उनकी श्रावक धर्म की व्यवस्था भी नियमन की व्यवस्था नहीं है, वह संयमन की व्यवस्था है। समाज में रहता हुआ भी व्यक्ति यदि उस व्यवस्था का पालन करता है तो वह अध्यात्म की एक हद तक साधना तो कर ही सकता है, पर अपने सामाजिक जीवन को भी निरापद बना देता है। जो व्यक्ति श्रावक नहीं बनता, अपने आप पर संयमन नहीं करता, उसे फिर नियमन का शिकार होना पड़ता है। निश्चय ही इस दृष्टि से समाज और अध्यात्म को भिन्न दिशाएं मानते हुए भी महावीर ने बहुत महत्त्वपूर्ण उपदेश दिये हैं। उनके निर्देश समाज व्यवस्था के सूत्र नहीं हैं, अध्यात्म के सूत्र हैं। पर उनके आधार पर जीवन जीया जाए तो अपने आप एक सामाजिक व्यवस्था फलित हो सकती है।

वास्तव में महावीर ने बारह व्रतों की जो व्यवस्था दी है वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। आज का मनुष्य उस व्यवस्था को भूल गया है। इसीलिए आज समाज-राष्ट्र में अनेक समस्याएं खड़ी हो रही हैं। यदि समाज उसे आत्मसात कर लेता तो आचार्य तुलसी को अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। बारह व्रतों की आवश्यकता कोई साम्प्रदायिक व्यवस्था नहीं है। वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक व्यवस्था है। दुर्भाग्य यही रहा कि उसे एक सम्प्रदाय विशेष की व्यवस्था मान लिया गया या बना दिया गया। अणुव्रत आन्दोलन वास्तव में बारह व्रतों का ही पुनः सुधार है। आचार्यश्री ने उसे असाम्प्रदायिक रूप से परोसने में अपनी सूझबूझ का परिचय दिया। यदि आदमी इस व्रत व्यवस्था को अपने जीवन में प्रतिबिम्बित कर सके तो वह राष्ट्र के लिए बहुत ही गौरव की बात हो सकती है। यह संयमन और असंयमन की बहुत सार्थक सीमा है।

आज महावीर को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। यह पूरे राष्ट्र का सवाल है, पूरी दुनिया का सवाल है। कोई भी आदमी इस व्यवस्था को रूपायित कर सकता है पर जैन समाज को इस अर्थ में पहल करने की आवश्यकता है।

21. जीवन विकास के तीन सूत्र

ज्ञान और श्रद्धा जीवन के दो मौलिक तत्त्व हैं। ज्ञान तो आवश्यक है ही, श्रद्धा भी आवश्यक है। कुछ लोग ज्ञान पर जोर देते हैं, कुछ लोग श्रद्धा पर जोर देते हैं। महावीर दोनों पर समान रूप से जोर देते हैं। बल्कि इन दोनों के साथ-साथ महावीर एक तीसरी बात पर और समान रूप से जोर देते हैं वह है-चरित्र। उनकी दृष्टि में कोरा ज्ञान बेसुध बन जाता है, कोरी श्रद्धा लीक बन जाती है। इसलिये इन दोनों की जरूरत है। पर चरित्र के बिना ज्ञान और श्रद्धा दोनों का ही विशेष उपयोग नहीं है। चरित्र पर भी वे एकांगी जोर नहीं देते। उस पर भी वे सापेक्ष रूप से बल देते हैं।

जीवन एक वस्त्र है। उसे सीने के लिए सुई की आवश्यकता है। पर सुई के पीछे धागा न हो तो वह बेकाम है। सुई बेधक तो होती है पर सिलाई तभी हो सकती है जब उसके पीछे धागा हो। कोरा धागा भी कोई मूल्य नहीं रखता। धागों से तो वस्त्र बनता ही है, पर उसे पहनने के योग्य बनाने के लिए सुई की भी आवश्यकता है। दोनों की ही अपनी-अपनी जगह आवश्यकता है। दोनों में से एक भी न हो तो वस्त्र सीया नहीं जा सकता। पर यदि सीने का प्रयत्न न किया जाए तो दोनों ही निरर्थक हैं। वस्त्र तभी धारण करने योग्य बन सकता है, जब सुई भी हो, धागा भी हो और उसे सीने का प्रयत्न भी हो।

कुछ लोग सुई की ही बात करते हैं। पर सुई में केवल चुभन ही नहीं है, कड़ापन भी है। बल्कि सुई और धागे में यही मौलिक भेद है। सुई यदि वस्त्र के अन्दर रह जाये तो वह न केवल चुभती ही है, कपड़े में मुड़ाव भी नहीं आ सकता। यदि चुभन हो तो वस्त्र किस काम का? फिर तो वह कांटा ही बन जाता है। मुड़ाव न हो तो वस्त्र किस काम का? क्या कोई लोहे की

चादर को ओढ़ सकता है? इसलिये दोनों की ही आवश्यकता है। पर उसे पहनने योग्य बनाने वाले चरित्र की भी आवश्यकता है। जीवन में लचीलापन भी आवश्यक है, कड़ापन भी आवश्यक है। व्यक्ति यदि केवल लचीला ही हो तो हर हवा उसे झुका देगी। यदि उसमें केवल कड़ापन ही हो तो आंधी उसे उखाड़ सकती है। नम्रता भी आवश्यक है, दृढ़ता भी आवश्यक है। इन दोनों ध्रुवों को जोड़ने वाला आचार ही चरित्र है।

जीवन एक मकान है। उसके लिए दीवारों की भी आवश्यकता है, छत की भी आवश्यकता है। साथ ही साथ कर्तृत्व की भी आवश्यकता है। श्रद्धा दीवारें हैं, ज्ञान छत हैं, दीवारों को छत से ढाकने का प्रयास ही चरित्र है। आदमी भले ही कितना ही व्यापक क्यों न बन जाये, उसे रहने के लिए मकान की आवश्यकता होती ही है। जहां मकान है वहां छतें और दीवारें भी आवश्यक है। पर अपने चरित्र से व्यक्ति समस्त के प्रति संवेदनशील बन सकता है।

जीवन एक यात्रा है। ज्ञान एक पैर है। श्रद्धा दूसरा पैर है। चलने के लिए दोनों पैरों की आवश्यकता है। एक पैर से स्थिरता तो हो सकती है, गति नहीं हो सकती। मंजिल तक पहुंचने के लिये दोनों पैरों से चलने की आवश्यकता है। दोनों की अनुस्यूति ही तो चरित्र है। दोनों अकेले हो यह बीमारी है। जब चरित्र से जुड़ते हैं तो परस्पर इलाज बन जाते हैं। चरक ने कहा है- गुड़ और नागर (पान) दोनों अलग-अलग रहकर कफ और पित्त के कारण बनते हैं। जब दोनों का योग हो जाता है तो वे औषधि बन जाते हैं। कफ और पित्त के बीमार को ठीक कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार अकेला ज्ञान काटने लगता है। जो लोग केवल ज्ञान के समर्थक होते हैं वे इतने कट जाते हैं कि अन्ततः उन्हें जीवन ही भार लगने लग जाता है। अनेक धुरन्धर लोगों ने केवल इसलिए आत्महत्या की कि उन्हें जीवन निरर्थक-सा अनुभव होने लगा। उनके पास ज्ञान की कोई कमी नहीं थी। बल्कि वे ज्ञान के उच्चतम शिखर पर बैठे थे। पर चूंकि उनके पास कोरा ज्ञान था, इसलिये वह भार बन गया। यदि उनके पास श्रद्धा और चरित्र होता तो वे आत्महत्या नहीं करते।

इस तरह कोरी श्रद्धा की विनाश लीला भी कम नहीं कही जा सकती। आज जितनी साम्प्रदायिकता, जितनी संकीर्णता है, उसका मूल कारण यह अंध-श्रद्धा ही है।

अमेरिका जैसे विकसित देश में भी केवल एक धर्म गुरु की अंध-श्रद्धा के शिकार होकर सैंकड़ों-सैंकड़ों व्यक्तियों ने जंगल में जाकर विष पीकर आत्महत्या करली। ये सारे उदाहरण अंध-श्रद्धा के जीते-जागते उदाहरण हैं। और चरित्रहीनता की तो बात ही अलग है। आज लोगों के पास अगाध ज्ञान है, अपने-अपने धर्म सम्प्रदाय के प्रति अगाध श्रद्धा भी है, पर केवल एक चरित्र की कमी के कारण सब कुछ अस्त-व्यस्त हो रहा है।

सभी धर्म मानते हैं कि शराब बुरी है। सभी लोग जानते हैं कि शराब से बहुत नुकसान होता है। ज्ञान भी है, श्रद्धा भी है, पर चरित्र नहीं है। इसलिये हर धर्म के लोग शराब पीते हैं। इसीलिये भगवान् महावीर ने ठीक ही कहा है-“ज्ञान की भी आवश्यकता है, श्रद्धा की भी आवश्यकता है, चरित्र की भी आवश्यकता है। तीनों में से एक की भी कमी हो तो जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

22. धर्म का मार्ग

इससे पहले कि कोई धर्म से भागे, उसे यह सोचना आवश्यक है कि धर्म क्या है? क्योंकि अक्सर धर्म के नाम पर उसके सामने कुछ घिसी-पिटी रूढ़ियां ही आती हैं। शायद बहुत कम लोग जानते होंगे कि धर्म का अर्थ है आनंद का मार्ग। जिस रास्ते पर चलने से मनुष्य को आनंद मिले वही धर्म है। भौतिक साधनों में भी आनंद की अनुभूति होती है पर वह आत्यंतिक नहीं है। इसलिए इसे आनंद नहीं कहकर सुख कहना ज्यादा उपयुक्त है। सुख एक रूप में सुख हैं, दूसरे रूप में दुःख भी हो सकता है। आनंद में आनंद ही है। उसका कोई विपक्ष नहीं है।

मैं एक ऐसे परिवार को जानता हूं जिसमें बहुत उल्लास के साथ एक कार खरीदी गई थी। स्वाभाविक था कि कार से सबको सुख-सुविधा होती। पर मुझे आश्चर्य हुआ उस परिवार में कार आने से सुख-सुविधा तो हुई, पर परस्पर खींचातान बढ़ गयी, आनंद नहीं आया इसीलिए थोड़े दिनों बाद कार को वापस बेच देना पड़ा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विज्ञान मनुष्य को सुख दे सकता है पर आनंद विज्ञान से नहीं मिलता, वह तो अपने आप से मिलता है। उसका जो रास्ता है वही धर्म का रास्ता है। मैं एक ऐसे परिवार को भी जानता हूं जहां एक साइकिल है। वह साइकिल उस परिवार के लिए सुख का विषय तो है ही, आनंद का विषय भी है। पर इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि साइकिल आने से पहले भी परिवार में आनंद छाया रहता था। वह साइकिल के साथ नहीं आया था, वह पहले से ही था। साइकिल चली भी जाए तो उनका आनंद छिन नहीं जाएगा, अलबत्ता सुख में अन्तर पड़ सकता है। इसीलिए मैं कहना चाहता हूं कि सुख और आनंद दो चीजें हैं। सुख का

रास्ता धर्म का नहीं है, आनंद का रास्ता धर्म का है। इसीलिए धर्म के लिए बाह्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं है।

आज का युवक सुख तक ही समिति हो गया है। वह आनंद को नहीं खोज रहा है। इसीलिए वह धर्म से भागा जा रहा है। खोजने का विषय यह है क्या सुख और आनंद परस्पर-विरोधी हैं? शायद नहीं। बल्कि सुख आनंद का पूरक बन सकता है। पर वह देख रहा है, धर्म के नाम पर उसके सामने जो आ रहा है वह आनंद तो बढ़ा ही नहीं रहा है, सुख भी नहीं दे पा रहा है। धर्म कोई देखने की चीज नहीं है, वह अनुभव करने की चीज है। साधारणतया आदमी संग्रह में ही सुख मानता है। संग्रह करना भी अपना एक सुख है। आनंद का उसके साथ आत्यंतिक जोड़ नहीं है। आनंद तो विसर्जन में भी मिल सकता है, शायद सुख न भी मिले। पर जिसे आनंद से साक्षात्कार हो जाता है उसके लिए सुख गौण हो जाता है। आज युवक का संग्रह से ही परिचय है। उसने अपनी दुनियां को इतना सीमित बना लिया है कि वह दूसरों से मिलना ही नहीं चाहता। यह तो खैर दूर की बात है। पर संग्रह के सुख को भी आनंद तक ले जाने के लिए उसे धर्म तक पहुंचना होगा। धर्म तक पहुंचना होगा का यह अर्थ नहीं है कि मन्दिर-मस्जिद या ऐसे किसी स्थान विशेष तक पहुंचना होगा, बल्कि धर्म तक पहुंचने का अर्थ है आनंद की अनुभूति तक पहुंचना।

आजकल देखा जाता है कि धर्म-स्थान में आ जाने मात्र से आदमी आस्तिक मान लिया जाता है। जो धर्म-स्थान तक नहीं पहुंचता है उसे नास्तिक कहा जाना बहुत सुगम है। पर यदि धर्म-स्थान युवक को आनंद की अनुभूति नहीं करा पाते हैं तो उन्हें किसी को नास्तिक करार देना उचित नहीं है। युवकों को भी शब्दों में उलझने की आवश्यकता नहीं है। धार्मिकों से भी उलझने की आवश्यकता नहीं। उलझना ही अधर्म है, सुलझना ही धर्म है। जो व्यक्ति अपने आनंद की खोज में निकलेगा वह दूसरों की ओर नहीं देखेगा। वह प्रतिक्रिया का जीवन नहीं जीएगा। उसकी प्रवृत्तियों में उसका अपना स्वयं का ही अभिक्रम होगा।

जब मनुष्य अपना स्वयं का जीवन जीता है तभी उसका व्यक्तित्व बन

पाता है। आजकल व्यक्तित्व का मानदंड केवल कपड़े और बाहरी टिपटाप ही मान लिया गया है। मैंने एक युवक को आचार्यश्री के सान्निध्य में उपस्थित होने को कहा। उसने कहा- मैं जा तो सकता हूं, पर मेरी ड्रेसें धुलवायी हुई नहीं हैं। मैंने पूछा-‘तुम्हें कितनी ड्रेसों की आवश्यकता है?’ उसने कहा-कम से कम चार-पांच ड्रेसें तो होनी ही चाहिए।’ इस थोथी मान्यता से देश और समाज का बहुत बड़ा नुकसान हुआ है। वास्तव में व्यक्तित्व का अर्थ है- सद्गुणों का विकास। जब तक सद्गुणों का विकास नहीं होगा तब तक स्थायी व्यक्तित्व नहीं बन पाएगा। सद्गुण किसी दूसरे के द्वारा पैदा नहीं किए जा सकते। वे तो स्वयं के द्वारा ही पैदा होते हैं। सद्गुणों के विकास की प्रक्रिया को ही हम अपना जीवन कह सकते हैं। वही धर्म है अतः उससे भागने की आवश्यकता नहीं है। यदि आनंद के अनन्त कोष को प्राप्त करना है तो धर्म के मार्ग पर आना आवश्यक है।

23. स्पष्टतापूर्ण-व्यवहार

एक मंत्री सुनाते थे-एक बार मेरे चुनाव क्षेत्र के मेरे एक मतदाता आये और मुझसे एक चीज का आरक्षण दिलाने को कहा। मैंने स्पष्ट उत्तर दिया- यह नियम विरुद्ध है, अतः मेरे लिये सेवा कर पाना असंभव है। उन्होंने कहा- मेरे सारे परिवार ने आपको वोट दिया। क्या आप हमारा इतना-सा भी काम नहीं कर सकते? मैंने कहा वोट दिया था तो मेरे चरित्र या देश सेवा को देख कर दिया होगा पर अब यह कैसे संभव है कि उसके लिए आप मुझे गलत काम करने के लिए विवश करें-सौदेबाजी करें। मैं आपकी नियमानुकूल सेवा करने का प्रयास करूंगा पर नियम विरुद्ध सेवा करने में मैं असमर्थ हूँ। वे मुझसे नाराज हो गये। अगले चुनाव में मुझे देख लेने की धमकी दी। पर मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया। वे किसी दूसरे व्यक्ति के पास गये। उन्होंने झट से उसे कोटा दिलाने का आश्वासन दे दिया। वे फिर मेरे पास आये और बोले आपने तो मना कर दिया परन्तु अमुक व्यक्ति ने हमें कोटा दिलाने का आश्वासन दे दिया है। मैंने कहा-यह अच्छी बात तो नहीं है पर खैर आपको संतोष हो गया तो ठीक ही है। फिर तो काफी दिनों तक वे उन मंत्रीजी के घर के चक्कर लगाते रहे पर उनका काम नहीं हो सका। बहुत तंग आकर आखिर वे एकदिन मेरे पास आये और बोले-‘उनसे तो आप ही अच्छे हैं जो स्पष्ट तो कह दिया। वे तो हमें आश्वासन देकर अब तक लटकाए हुए हैं। सदा कल आने की कहने वाले दाता से कृपण ही अच्छा है जो एकबारगी मना कर देता है। मैंने उन्हें नम्रता से कहा- मैं आपकी बुराई नहीं चाहता हूँ, बल्कि भलाई ही चाहता हूँ। पर गैर वाजिब काम करके हम प्रजातंत्र की नींव को ही खोखली कर रहे हैं। हमें अपने

कर्त्तव्य का बोध होना चाहिये और समय पर स्पष्ट बात कहने में संकोच नहीं करना चाहिये।

यह राजनैतिक जीवन की एक घटना है। राजनीति में तो साम, दाम, दंड, भेद सब चलते हैं। पर वे लोग कभी ऊपर नहीं आ सकते जो भ्रष्ट तरीकों से येन-केन प्रकारेण अपना काम निकालना चाहते हैं। गांधीजी ने राजनीति में भी स्वच्छ और स्पष्ट व्यवहार को स्थान देकर स्पष्ट कर दिया था कि नकली चेहरा बहुत दिनों तक नहीं टिक सकता। यदि कोई कपट व्यवहार कर दूसरों को टरकाता रहता है वह न केवल अपने आपको ही नीचा गिराता है अपितु देश की व्यवस्था को भी धक्का पहुंचाता है।

पारिवारिक जीवन को लें तो पाएंगे पारिवारिक जीवन में तो स्पष्टता के बिना काम चल ही नहीं सकता। जिन परिवारों की नीति स्पष्ट होती है तथा उनका व्यवहार उसी के अनुसार होता है वे परिवार आदर्श परिवार के रूप में सामने आ सकते हैं। मैं एक ऐसे अणुव्रती परिवार को जानता हूँ जिसकी अपनी नीति अत्यंत स्पष्ट एवं प्रामाणिक है। विशेष बात तो यह है कि वह परिवार न एक धनी परिवार ही है अपितु समाज में भी प्रतिष्ठा प्राप्त है। सरकार की ओर से कई बार उनकी प्रामाणिकता को चुनौती दी गई पर अपनी स्पष्टता के आधार पर उन्होंने सारी चुनौतियों का डटकर मुकाबला किया और आग में तपे हुए सोने की भांति निखर कर सामने आये।

स्पष्ट व्यवहार वही व्यक्ति कर सकता है जिसके चरित्र में सत्य का पृष्ठ-बल हो। झूठ की बुनियाद पर खड़ा ताश का महल एक बार भले ही आकर्षण पैदा कर सकता है पर अंततः एक हल्के से हिलोर से उसका धराशायी होना निश्चित प्राय है। हर बुराई या अच्छाई अपने साथ अनेक बुराईयों व अच्छाईयों को लेकर आती है। इसी प्रकार स्पष्टता भी अपने साथ अनेक अच्छाईयों को लेकर ही आ सकती है। स्पष्ट व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि यदि वह अपने आस पास कोई गलती देखे तो उसकी ओर अंगुली निर्देश करे। जो लोग अपने हितैषियों की केवल प्रशंसा ही करते रहते हैं उनके दोषों को स्पष्ट नहीं करते वे वास्तव में हितैषी नहीं हैं। सच्चे हितैषी को अपने से सम्बन्धित व्यक्तियों की गलतियों की ओर इशारा करते

समय जरा भी संकोच नहीं होगा। पर इसमें जो मुख्य कठिनाई है वह यही है कि जब तक व्यक्ति स्वयं बुराईयों से दूर नहीं होता तब तक वह दूसरों की बुराईयों को कहने का साहस भी नहीं कर सकेगा। अतः स्पष्टवादी को पहले अपना परिमार्जन कर लेना अपने आप आवश्यक हो जाता है। दूसरों के प्रभाव में आकर ही हम अपनी गलतियां उन्हें नहीं बता सकते। जिस व्यक्ति को अपने आप पर भरोसा होता है वही दूसरों की गलती बता सकता है।

कुछ लोग दूसरों की गलतियां तो बताते हैं पर उनके कहने का तरीका इतना आक्रामक होता है कि उससे सुधार की जगह उल्टा नुकसान हो जाता है। अतः दूसरे की गलती को बताते समय भी बड़ी नम्रता की आवश्यकता है। किसी के सम्मान को ठेस पहुंचाकर हम उससे यह आशा नहीं कर सकते कि उसमें विरोधी प्रतिक्रिया पैदा नहीं हो।

कुछ लोग झूठी प्रतिष्ठा की दृष्टि से अपने आपको स्पष्ट नहीं करना चाहते। पहले उनकी स्थिति सुदृढ़ होती है। उस समय में उनके द्वारा अनेक बड़े-बड़े कार्य किये गए होते हैं। लेकिन बाद में उनकी स्थिति में अंतर आ जाता है। वे अपनी पुरानी प्रतिष्ठा की दृष्टि से अपने आपको स्पष्ट नहीं कर पाते इससे अंदर ही अंदर उलझ जाते हैं अंततः स्थिति का पूर्ण परिपाक हो जाता है तब न तो वे अपने को ही स्थिर रख पा सकते हैं और न उस पुरानी प्रतिष्ठा को भी। अतः झूठी प्रतिष्ठा के चक्कर में आकर भी व्यक्ति को अपने आपको धुंधलके में नहीं रखना चाहिये।

कुछ लोग (खास कर माताएं) बच्चों को झूठा आश्वासन देती रहती हैं। कभी वे उन्हें मिठाई खिलाने का झूठा आश्वासन देती रहती हैं तो कभी कपड़े बनवाने का। परिस्थिति यह होती है कि उनके लिए अपने वादों को पूरा कर पाना असंभव होता है। बच्चे भी अन्ततः इस बात को समझ जाते हैं। फिर उन पर उन प्रलोभनों का असर ही नहीं होता है बल्कि वे स्वयं भी ऐसे प्रलोभन देना सीख जाते हैं।

एक बार एक महिला अपने पौत्र को लेकर मेरे पास आई। बच्चे की उम्र कोई डेढ़- दो साल थी। पर वह बड़ा चपल था मेरे सामने रखी हुई

डेस्क पर एक फुट (स्केल) पड़ी हुई थी। बच्चे ने मुझे नमस्कार किया व फुट को अपने हाथ में उठा लिया। कुछ देर वह उसे उलट-पुलट कर देखता रहा। फिर जब मैंने उससे अपनी फुट वापस मांगी तो उसने उसे देने से इन्कार कर दिया। मैंने सोचा इसको रूलाना अच्छा नहीं है अतः देखता रहा वह क्या करता है। थोड़ी-सी देर में बच्चे ने फुट को अपने पीछे छिपा लिया और उसे अपने हाथ में लिये हुए उल्टा घूम कर और पास की एक आलमारी की ओर जाने लगा। मैं उसकी हर हरकत को बड़े ध्यान से देख रहा था और फुट तो मुझे अब स्पष्ट ही दिखाई दे रही थी। पर बच्चा यही समझता था कि मुझे फुट दिखाई नहीं दे रही है। आलमारी के पास आकर उसने अपनी पैरों की अंगुलियों के बल पर खड़ा होकर बड़ी होशियारी से उस फुट को आलमारी के दूसरी तह में छिपा दिया। क्योंकि पहली तह में तो उसे फुट स्पष्ट दिखाई देती थी अतः सुरक्षा की दृष्टि से उसने उसे दूसरी तह में रखना ही निरापद समझा।

फिर वह मेरे पास लौटकर आया तो मैंने कहा-मेरी फुट लाओ। वह बड़ी भोली सूरत बनाकर हाथों को झटकाकर खिड़की की ओर इशारा कर कहने लगा-फुट तो कौवा ले गया। मुझे बड़ी हंसी आई। खिड़की के जंगले पर लौहे की सींके लगी हुई थी फिर यदि कौवा आया तो कैसे आया। पर मैं समझ गया कि कौवा उसके संस्कारों में से उड़कर आया है। मैंने उसकी दादी से पूछा-क्या तुम इसे कभी कौवे का झूठा बहाना देती हो। दादी ने बताया कि जब कभी हमें यह अधिक तंग करने लगता है तो हम इसे पैसे का प्रलोभन देते हैं। रोज-रोज पैसे देना कठिन होता है और वह उन्हें गंवा भी देता है अतः हम इसे पैसे दिखाकर उसे आकाश की ओर फेंकने का बहाना बनाकर इधर-उधर छिपा लेते हैं और उसे कह देते हैं पैसा कौआ ले गया। इस प्रकार पहले तो यह मचलता हुआ रह जाता था पर अब तो यह हमें भी ऐसे झूठलाने का प्रयास करता है। मैंने कहा यदि तुम्हारा पैसा कौआ ले जा सकेगा। तो मेरा फुट कौआ क्यों नहीं ले जा सकता? और बहुत देर तक यह घटना मेरे दिल को झकझोरती रही कि किस प्रकार झूठे एवं अस्पष्ट प्रलोभन बच्चों में गलत संस्कारों की सृष्टि कर देते हैं।

24. जीवन का सत्य

वे एक भूतपूर्व कुलपति हैं। उससे पूर्व सरकारी सेवा से भी ऊंचे पद से निवृत्त हुए थे। बड़े सम्मान के साथ उन्होंने अपनी सेवाएं प्रदान की। अब उन पर कोई जिम्मेदारी नहीं है। बच्चे पढ़-लिखकर होशियार हो गए हैं। उनका अपना सुखी परिवार है। एक बच्चा विदेश में काम करता है। अभी वे उसके पास रह कर आए हैं। मैंने सहज ही पूछ लिया-“आजकल आप क्या करते हैं? उन्होंने सीधा-सपाट उत्तर दिया- कुछ नहीं, विश्राम करता हूं। बहुत कुछ कर लिया, सरकार पेंशन देती है। आराम से रहता हूं।

मैंने कहा-“आप तो बहुत अध्ययनशील थे। लिखते भी अच्छा थे। पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेखन की मांग रहती थी। सब कुछ ऐसे क्यों छोड़ दिया?” वे बोले-“लिखने के लिए पढ़ना पड़ता है। मान लिया जाए महीने में एकाध लेख लिख भी दूं, एक-दो किताब भी छप जाए। पर इससे क्या होगा? लोगों ने आगे भी बहुत कुछ लिख रखा है। कौन पढ़ता है उसको? मेरे पास बहुत सारी महत्वपूर्ण पुस्तकें पड़ी हुई हैं। कुछ पुस्तकें मैंने स्वयं शौक से खरीदी थी। कुछ पुस्तकें मुझे देश-विदेश में अनेक जगहों पर भेंट से प्राप्त हुई। कुछ पुस्तकें बहुत अच्छी हैं। मेरी अपनी अच्छी लाइब्रेरी थी पर अब उन पुस्तकों को कौन पढ़ेगा? इसीलिए मैंने उन्हें अनेक पुस्तकालयों में बांटना शुरू कर दिया है। अब क्या जीवन भर पढ़ते ही थोड़े रहना है। मैंने भगवती जैसा सूत्र पढ़ा। उस पर सैंकड़ों नोट्स लिखे। विज्ञान का भी गहरा अध्ययन किया। अनेक नये प्रसंग मेरे ध्यान में आए। पर अब उन नोट्स का भी क्या मूल्य है? यह मेरी समझ में नहीं आता?

“जवानी में ऊंचे-ऊंचे पदों पर काम किया। देश-विदेश की यात्राएं कीं। अब और क्या करना? बस अब तो आराम करना है। बच्चे विदेशों में

रहते हैं उनके अपने काम-धंधे हैं। मन में आता है तो कुछ दिन उनके साथ बिता देते हैं। पर अब कोई झंझट अपने पर लेने की बात अच्छी नहीं लगती। यही अच्छा लगता है कि आराम से रहें। आराम से सोयें-उठें। शरीर को संभालें। पास-पड़ोस तथा परिवार-परिजनों से मिले-जुलें। बस यही नित्यक्रम बना लिया है।”

जीवन का यह एक पहलू है। एक दूसरा पहलू भी मेरे ध्यान में है। वह एक उद्योगपति का है। उनके पास बहुत पैसा है। जीवन भर शान से उथल-पुथल का धंधा किया। अब भी उसमें व्यस्त-व्याप्त हैं। लड़के-पोते बड़े-वयस्क हो गए हैं। अच्छे पढ़े-लिखें हैं। धंधा भी अच्छी तरह संभालने लगे हैं। स्थिति पहले से बेहतर है। बच्चे कहते हैं-“पिताजी! अब आप अराम करो। आपने हमारे लिए बहुत कुछ किया। परिवार के लिए भी बहुत कुछ किया। बहुत संघर्ष झेले। अब अपने लिए, अपनी आत्मा के लिए भी कुछ करें।” पर सेठजी को उनकी सलाह रूचिकर नहीं लगती। उनकी सोच है कि मैं काम नहीं देखूंगा तो सब कुछ गड़बड़ हो जायेगा। अतः वे दिन-रात मेहनत करते हैं। दांव-पेंच भी खेलते हैं। उन्हीं के कारण परिवार में थोड़ा तनाव रहता है। उनकी आदत ही ऐसी हो गई है कि बिना धंधे के उनसे रहा ही नहीं जाता।”

ऊपर के दोनों प्रसंग मेरे सामने हैं। भगवान् महावीर का ‘समयं गोयम! मा पमायए’ गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत करो-यह उपदेश भी मेरे सामने है। आदमी को कितना जीना है यह निश्चित नहीं है, पर एक दिन जाना है यह निश्चित है। आदमी कितना ही उपाय कर ले, आराम से रहे, टॉनिक खा ले, कालाकल्प करवा ले, पर मृत्यु को तो आना ही है। सवाल यही है कि जीवन किस तरह जीया जाए? क्या शरीर को आराम देना, पालना-पोषना ही जीवन का लक्ष्य है या दिन-रात भाग-दौड़ में बिता देना ही धर्म है-यह प्रश्न ऊपर की दोनों घटनाओं से उभरता है।

इसमें कोई शक नहीं कि शरीर को संभालना जरूरी है। शरीर ही स्वस्थ न रहे तो जीना भी बेस्वाद हो जाता है। पर यदि शरीर ही जीने की प्रेरणा बन जाए तब जीवन का दायरा संकीर्ण बन जाता है। जीवन को

रसमय बनाने के लिए दूसरों में रुचि लेना भी जरूरी है। जैन संस्कारों की समृद्धि के लिए ही गुरुदेव श्री तुलसी ने कहा था कि साठ वर्ष की उम्र के बाद आदमी को अपने अपनत्व का दायरा विस्तृत कर देना चाहिए। एक उम्र तक आदमी को अपना तथा अपने परिवार का परिपोषण करना जरूरी है। जब तक बच्चे बड़े नहीं हो जाते हैं तब तक आदमी को अपना पारिवारिक दायित्व निभाना पड़ता है। न केवल बच्चों के लिए अपितु अपने लिए भी जीने की सार्थक भूमिका बनाना आवश्यक है। परिवार यदि सुयोग्य न हो तो आदमी का बुढ़ापा दुर्वह बन जाता है। मैंने अनेक लोगों को देखा है जिनका जीवन बहुत सक्रिय रहा है। पर वे अपने परिवार को सुयोग्य नहीं बना पाए, इसलिए उनका बुढ़ापा भार बन गया। पर परिवार को सुयोग्य बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि आदमी अपने बच्चों पर विश्वास करें, उन्हें कार्य का दायित्व सौंपे। बच्चों-बंधुओं को सब कुछ सौंप देने से पहले आदमी को अपनी भूमिका सुदृढ़ बनाना बहुत आवश्यक है। वह भूमिका विश्वास से ही बन सकती है। परिवार का अपना एक सुख है। पर जो लोग आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं वे उस सुख की अनुभूति नहीं कर सकते। पर जो लोग परिवार में संतुलन बना लेते हैं, वे यदि यथावकाश अपने पंख पैलाते हैं तो उनका सुख और अधिक विस्तृत-व्यापक बन सकता है। उनके जीवन को न बुढ़ापा नीरस बना सकता है और न वे निराश बन सकते हैं। उनके जीने की ललक और अधिक रसमय बन जाती है।

आदमी के शरीर-सामर्थ्य की तो एक सीमा है ही। पर दूसरों पर स्नेह बरसाकर आदमी अनेक लोगों की शुभकामनाएं अर्जित कर सकता है। इससे जीवन की डोर छोटी नहीं होती अपितु और अधिक बढ़ जाती है। उनके जीने की प्रेरणा भी बलवती बन जाती है। मैंने ऐसे अनेक वृद्धजनों को देखा है। जिनका बुढ़ापा बहुत बोझिल बन जाता है। एक समय वे बहुत सक्रिय रहे। पर जीवन की परस्परता तथा सामाजिकता को नहीं समझने के कारण बुढ़ापे में वे अपने आपको अत्यंत अकेला महसूस करने लगते हैं। वे अनुभव करने लगते हैं कि कोई हमारे पास आकर नहीं बैठता, सुख-दुःख की बात नहीं करता। पर जो लोग गुरुदेव के संकेत के अनुसार एक उम्र के

बाद अपने परिवार का दायरा व्यापक बना लेते हैं तो अवश्य ही अनेक लोग उनके हमदर्द बन सकते हैं। बड़ी उम्र में धर्म-ध्यान में अपना चित्त लगा देना मनः प्रसत्ति का एक बहुत बड़ा साधन है। वह जीवन का एक बहुत बड़ा सहारा है। दूसरों में दिलचस्पी लेने से उनके मन में भी सदाशयता का उदय होता है। सदाशयता दीर्घ जीवन तथा संतुष्ट जीवन जीने की बहुत अच्छी कुंजी है। जो आदमी इस बात को समझ लेता है उसका स्वयं का जीवन ही रसमय नहीं बन जाता अपितु वह आस-पास में भी सरसता का माहौल बना लेता है। मृत्यु जीवन का सत्य तो है ही पर मनुष्य की सफलता-असफलता का भी एक चिट्ठा है। उनका जीवन बेहतर माना जाता है जो अपने सुख-दुख को दूसरों के साथ बांटने का सार्थक प्रयत्न करते हैं। जैन संस्कारों से भावित लोग यदि अपने अनुभवों से स्व-पर कल्याण के मार्ग पर बढ़ सकें तो वे इस दुनियां को और अधिक बेहतर बना सकते हैं।

25. आवश्यक-रेखा

अहिंसा, आस्तिक और नास्तिक दोनों को साथ लेकर चलती है। क्योंकि दोनों ही ऐसा मानते हैं कि वह जीवन की आवश्यक रेखा है। इसलिए उसे आस्तिक धर्म या नास्तिक धर्म कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वह अपने आप में होती हुई किसी की भी नहीं है। अनुमाता उसे अपनी बनाता है। इसलिए वह आस्तिक और नास्तिक दोनों की ही बन जाती है। आस्तिक की दृष्टि से वह परलोक तक जाती है। इसलिए इस जीवन में उसका अवतरण हठपूर्वक भी किया जा सकता है। हठ का मतलब शरीर के चाहते और अनचाहते भी यह आवश्यक है कि जीवन में उसका प्रयोग होना चाहिए। शरीर पर उसका ममत्व होता नहीं, अतः वह दुःख पाये भी तो उसमें कोई हानि नहीं। वहां वह केवल मानसिक शांति के आश्रय पर हैं जो शरीर से निरपेक्ष है। अतः वह जीवन में दुःख नहीं लाती तोष लाती है। जिससे जीवन बोझ नहीं होकर एक सरस चीज बन जाती है।

दूसरी ओर नास्तिक की दृष्टि से भी वह जीवन का सनातन सत्य है। समाज की अवस्थिति के लिए एक दूसरे को सहना या जीवित रहने देना अनिवार्य है। अतः अहिंसा का स्थूल रूप वहां स्वतः ही स्वीकृत हो जाता है। बिना सूक्ष्म के स्थूल टिक नहीं सकता। अतः स्थूल अहिंसा के साथ उसका सूक्ष्म रूप तो अवश्य आयेगा ही। मनुष्य किसी को मारे नहीं तो यह स्वयं ही उसे तय करना पड़ेगा कि वह किसी दूसरे के प्रति द्वेष भाव नहीं रखें। द्वेष के रहते अहिंसा संभव नहीं, क्योंकि द्वेष हिंसा से बचकर तो चल ही नहीं सकता।

इसके साथ ही अहिंसा मनुष्य के अपने व्यक्तिगत रक्षण के लिए भी

अनिवार्यतः आपतित है। बहुत से रूपों में उसका एक रूप यह भी है कि मनुष्य जितना सहनशील बनेगा उसे उतना ही कम दुःख होगा। दुःख से मतलब शरीर और मानस दोनों है। ज्यों-ज्यों उसमें तितिक्षा आयेगी त्यों-त्यों वह स्वस्थ होता जायेगा। समाज में तो उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी ही पर उसके मानसिक तनाव में भी कमी आती जायेगी।

रूस के एक डॉ० ने हाल ही में यह कहा था कि मनुष्य की आयु १७५ वर्ष तक होनी तो बहुत ही संभव है। इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए उसने एक बात यह भी कही थी कि यदि उसके स्नायु मानसिक दबाव से सुरक्षित रहे तो यह बात बहुत संभव है।

वास्तव में यह बात ठीक ही लगती है। अत्यधिक संवेदन-असहिष्णुता मनुष्य को अपने स्वास्थ्य को गिरने से बचा नहीं जा सकते। वे मनुष्य जो संवेदन से घिरे रहते हैं अल्पवय में मरते हैं। इसे हम देख रहे हैं। उनके ज्ञान तंतु भी बहुत जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं। बहुत से मनुष्य पागल हो जाते हैं। इसका कारण उनका मानसिक सन्तुलन स्थिरता पर नहीं रहता। अतः तितिक्षा का होना मनुष्य के अपने जीवन के लिए भी आवश्यक है। या दूसरे शब्दों में तितिक्षा के बिना जीवन संभव ही नहीं है। क्योंकि यह कभी संभव नहीं कि परिस्थितियां मनुष्य के सर्वथा अनुकूल हो जाये। और अनुकूलता के अभाव में यदि मनुष्य अपना संतुलन खो दे तो क्षण-क्षण भारी दीखने लगेगा। जीवन बोझ हो जायेगा। अहिंसा की दृष्टि से असहिष्णुता उसमें आती नहीं है। अतः सुखमय जीवन के लिए अहिंसा नितान्त आवश्यक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अहिंसा के प्रति नास्तिकों का यही दृष्टिकोण उन्हें उसके प्रति श्रद्धा पैदा कराता है।

इस प्रकार अहिंसा किसी वर्ग विशेष का धर्म नहीं है। वह मानव धर्म है। उसे विभक्त कर देना अपनी-अपनी श्रद्धा से अपेक्षित है। हिंसा और अहिंसा की पश्चानुपूर्वी और अनुपूर्वी से एक बीच की रेखा ऐसी आती है जो जीवन को सरस बनाती है और जो सबको मान्य है।

यहां पर आकर मनुष्य स्वयं को देखे कि वह सुखी है या दुःखी।

सुख और दुःख उसका स्वनिर्मित है। दुःख का कारण हिंसा है और सुख का कारण अहिंसा। यदि आस्तिक दुःख का अनुभव करता है तो उसकी अहिंसा अभी तक और पक्की होना मांगती है। और यदि नास्तिक दुःखी है तो उसकी हिंसा कम होना मांगती है। मनुष्य सोचे और स्वयं का निरीक्षण करे वह अवश्य ही सुखी हो सकता है।

26. राग और विराग में संतुलन आवश्यक

राग और द्वेष ये दोनों कार्य के बीज हैं। राग प्रबल होता है तभी द्वेष होता है। वास्तव में द्वेष तो प्रतिक्रिया है। राग जब गहरा जाता है तब उसकी प्रतिक्रिया में द्वेष फूटता है। जमैका में विश्व क्रिकेट कप में इंडिया हार गई। भारतीय क्रिकेट प्रेमियों को भारी धक्का लगा। आज क्रिकेट का फीवर आम है। उसकी दीवानगी भी बेहद है। लोगों ने रात भर जाग-जाग कर टी. वी. पर आंखे गड़ाई। इम्तिहान के दिन थे। फिर भी छात्रों का ध्यान बंटता रहा। ऑफिसों का कार्य भी प्रभावित हुआ। रसोई घर भी अव्यवस्थित हुए। क्रिकेट प्रेमियों की दीवानगी से परिवार-पड़ोस के लोगों की नींद भी हराम हुई। भारत की टीम हार गई तो लोगों ने तरह-तरह से अपना गुस्सा निकाला। किसी ने सचिन को गालियां दी तो किसी ने द्रविड़ को गालियां दी। किसी खिलाड़ी को नहीं बख्सा गया। कोच को भी बहुत कुछ सुनना पड़ा। किन्ही लोगों ने शोक में सिर मुंडवाए तो किन्हीं ने तर्पण किया। किन्हीं ने पोस्टर-पुतले जलाए तो किन्हीं ने शवयात्रा निकाली। चारों ओर आक्रोश का वातावरण था। लाखों लोग बेचैन थे।

यह खेल केवल भारत के लिए ही नहीं पाकिस्तान आदि अनेक देशों के लिए क्लेश कारक बना। अनेक देशों के खिलाड़ियों को अपने देश लौटना भारी पड़ गया। पाकिस्तान की टीम के कोच की हत्या एक रहस्यमय गुत्थी बन गई। अंतिम-चरम में खुशियां तो एक-दो टीम को ही हुईं। अधिकतर टीमों को तो निराशा ही हुई। वास्तव में क्रिकेट मैच ने अपना क्रेज बना लिया है। उससे दुनियां भर के लोगों में अपने-अपने अनुपात से राग-द्वेष का एक अजीब माहौल बन गया है। क्रिकेट का खेल एक व्यवसाय भी बन गया है। मैच फिक्सिंग एवं सट्टे बाजी में अरबों रुपयों

के वारे-न्यारे हुए। ये सब राग की अभिव्यक्तियां हैं। राग जब पोषित होता है तो खुशी होती है। जब वह टूटता है तो गुस्सा और निराशा फैलती है।

वास्तव में खेलों का यह आयोजन इसलिए शुरू हुआ था कि मनुष्य में खेल भावना का उदय हो। जीवन के हर पक्ष में खेल भावना का पक्ष पुष्ट बने। खेल में जैसे हार- जीत होती है वैसे ही जीवन के हर पक्ष में हार- जीत होती रहती है। इन दोनों स्थितियों में सन्तुलन रहे यही इनका उद्देश्य था। पर आज खेलों पर विज्ञापन-जगत का जैसा कब्जा हो गया है उससे संतुलन बनता ही नहीं है, बिगड़ता है। मीडिया मालिकों को अपने पैसे से मतलब है। वह चाहे सिनेमा स्टारों के विज्ञापन से मिले, चाहे खिलाड़ियों से मिले, चाहे और किसी से मिले। वे अपना जाल फैलाते रहते हैं और बेभान लोग इसमें फंसते जाते हैं। बच्चों पर उसका गहरा असर होता है। आज तो छोटे-छोटे शिशुओं के हाथ में प्लास्टिक के बल्ले खिलौनों के रूप में आ गए हैं। खेल तो पहले भी होते थे, पर उनके प्रति दीवानगी इतनी गहरी नहीं होती थी। असंतुलन चाहे किसी भी चीज का हो वह अंततः नुकसानदेह ही होता है।

ऐसी परिस्थिति में संतुलन के लिए प्रेक्षाध्यान का विशेष महत्त्व है। प्रेक्षाध्यान न केवल खिलाड़ियों में अपने खेल व मानसिक स्तर पर संतुलन बना सकता है, अपितु दर्शकों में भी एक संतुलन बना सकता है। असल में जब तक दुनियां में संतुलन स्थापित नहीं होगा तो विज्ञापन और व्यापार भी समाज में एक विद्रूपता पैदा करता रहेगा। व्यापार तो आदमी को करना पड़ता है, अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं, सामाजिक संपर्क भी बनाए रखने पड़ते हैं, पर उनमें संतुलन आ जाये तो जीवन एक वरदान बन सकता है। ध्यान केवल अध्यात्म ही नहीं है, वह जीवन की सफलता का सूत्र है।

इस संदर्भ में गौतमबुद्ध के जीवन का एक प्रसंग बहुत ही प्रेरक है। गौतम बुद्ध श्रावस्ती नगरी के उद्यान में प्रवास कर रहे थे। एक औरत किशा गौतमी अपने मृत बच्चे को हाथ में लेकर रोती-बिलखती हुई वहां पहुंची। उसने सब उपचार कर लिये पर कोई भी उपचार उसके मृत पुत्र के शरीर में प्राण-संचार न कर पाया। गौतमी अत्यंत दुःखी थी। पागल-सी बन गई।

उसे समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे? आखिर उसे ध्यान आया भगवान् बुद्ध एक चमत्कारी पुरुष हैं। शायद वे मेरे बेटे के प्राणों को पुनः लौटा दें।

वह अपने पुत्र का शव लेकर भगवान् के पास आई। अत्यंत भाव विह्वल होकर उसने निवेदन किया-प्रभो! मेरा इकलौता बच्चा गहरी नींद में सो गया है। सब उपाय निष्फल हो गये हैं। अब केवल एक ही आशा बची है। आप ही इसे प्राण-दान दे सकते हैं। आपने अनेक असंभव बातों को संभव बनाया है। मैं भी आपके द्वार पर पुत्र-भिक्षा की आशा लेकर उपस्थित हुई हूँ। आप मेरी भावना को सार्थक बनाएं। आप, केवल आप ही मेरे इस दर्द को समझ सकते हैं। मैं आपके सामने झोली पसारती हूँ। आप मुझे निराश न करें।

यह कहते-कहते गौतमी फूट-फूट कर रोने लगी। उसने अपने मृत पुत्र को भगवान् के चरणों में लिटा दिया। गौतमी की दशा अत्यंत द्रावक थी। बुद्ध करुणा से भीगे हुए थे। उन्होंने समझ लिया कि इस पर अभी कोई उपदेश काम नहीं कर सकेगा। अतः उन्होंने गौतमी की आंख से आंख मिलाकर कहा- गौतमी! तुम एक काम करो श्रावस्ती के किसी भी घर से एक मुट्ठी भर सरसों ले आओ। मैं उसे अभिमंत्रित करूंगा। लेकिन इसमें एक शर्त है। सरसों उस घर से आनी चाहिए जिस घर में कभी मौत का प्रवेश नहीं हुआ हो। गौतमी तो मोहग्रस्त थी। वह बुद्ध की शर्त का मर्म नहीं समझ पाई। इसलिए उसे आशा बंधी की अब उसका पुत्र जी जायेगा। वह श्रावस्ती के एक किनारे से दूसरे किनारे तक एक-एक घर तक घूमी। मुट्ठी भर सरसों की याचना की। लोग उसे बोरी भर सरसों देने के लिए तैयार थे। पर जब वह इस शर्त के संदर्भ में पूछती कि तुम्हारे घर में मृत्यु का प्रवेश तो नहीं हुआ? तो सब हैरान हो जाते। कोई कहता- मेरे घर में तो अभी-अभी मौत हुई है। कोई कहता-मेरा बाप गुजर गया है। कोई कहता- मेरी पत्नी गुजर गई है। हर घर में कोई न कोई दम तोड़ चुका था। कोई भी दरवाजा ऐसा नहीं मिला जिसमें से शवयात्रा नहीं निकली थी।

हताश गौतमी खाली हाथ बुद्ध के पास लौटी। बुद्ध ने उत्सुकतापूर्वक

कहा-लाओ गौतमी! सरसों के दाने लाओ, जिनसे मैं तुम्हारे पुत्र को पुनर्जीवित कर सकूँ। गौतमी ने कहा-भगवान्! सरसों के दाने तो नहीं मिले। अरे! बुद्ध ने आश्चर्य से कहा-इतनी विशाल श्रावस्ती नगरी में मुट्टी भर सरसों के दाने नहीं मिले? गौतमी ने कहा - भगवान्! सरसों तो ढेर सारी मिल रही है। पर ऐसी सरसों नहीं मिली जिस घर में मौत ने प्रवेश न किया हो?

बुद्ध का आश्चर्य मुस्कान में बदल गया। उन्होंने कहा-गौतमी! यही तो सत्य है। हर घर में मौत घुस सकती है तो तुम्हारे घर में क्यों नहीं घुस सकती। यदि मरा हुआ व्यक्ति जिंदा हो सकता तो आज तक किसी की भी शवयात्रा नहीं निकलती। यह भवितव्यता है। मरे हुए को कोई भी जीवन नहीं दे सकता। तू धैर्य धारण कर। तुम्हें दुःख इस बात का नहीं है कि तुम्हारा पुत्र मर गया। तुम्हारा दुःख इसलिए है कि तुम्हारी उसमें आसक्ति थी। तू दुःख की इस धारणा को समझ, आसक्ति को छोड़। अनासक्ति में स्थित हों। इसी से तुम्हारा दुःख खत्म होगा।

गौतमी को बात समझ में आ गई। उसने विपश्यना का अभ्यास किया और दुःख मुक्त हो गई। विपश्यना कहो या प्रेक्षा? तात्पर्य एक ही है। हमारे आज के युग में राग का पक्ष जितना प्रबल है उतना विराग का नहीं है। संसार में राग से पूर्ण मुक्ति असंभव है, पर दोनों में संतुलन बना रह सके तो भी काफी कठिनाईयां कम हो सकती हैं। इसीलिए जीवन के हर क्षेत्र में प्रेक्षाध्यान की आवश्यकता है।

27. संस्कार-निर्माण की आवश्यकता

गरीबों की समस्या के बारे में आज देश में काफी सोचा-विचारा जा रहा है, चारों ओर उनकी सहानुभूति में आंसू बहाए जा रहे हैं। कोई जमाना था जब लोग राजा-महाराजाओं की जय बोलते-बुलवाते थे, पर आज उसके स्थान पर 'गरीबी हटाओ' का नारा सब लोगों की जबान पर है। इस आम सहानुभूति का अपना एक महत्त्व है। पर इसके साथ-साथ कुछ ऐसे भी मुद्दे हैं जिन पर ध्यान दिया जाना अत्यंत आवश्यक है। यद्यपि पुराने राजा-महाराजा अब नाम-शेषता की ओर जा रहे हैं, पर फिर भी गरीब के नाम पर आज भी पूंजीपति का ही पेट मोटा होता जा रहा है। जब तक समस्याओं को केवल आर्थिक स्तर पर देखा जायेगा, तब तक उनका सही समाधान नहीं निकल सकेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाए। अर्थ भी जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू है पर उसके मूल में यदि मानवता का रस नहीं सींचा गया तो संभव है सारी फसल ही सूख जाए।

संस्कार-निर्माण के कार्य को लेकर मेरा इन दिनों में पिछड़ी जाति के लोगों से काफी गाढ़-सम्पर्क हुआ। मैंने गहराई से उनकी समस्याओं को समझने की कोशिश की तो मुझे लगा कि उनके पिछड़ेपन का मूल कारण केवल आर्थिक पिछड़ापन ही नहीं है। अणुव्रत प्रयोग क्षेत्र आम्रावली (आमली) के आस-पास की घटना है। मैं एक गांव में गया। वहां पिछड़ी जाति के बहुत सारे लोगों की आबादी है। प्रताप नामक चमार की बात बता रहा हूं। अभी-अभी भूमि विकास बैंक की ओर से तीन हजार रूपयों का सरकारी ऋण प्राप्त हुआ। तीन हजार में से एक तिहाई अनावर्तक ऋण के रूप में मिला। उसमें से पचास रूपये तो पहले ही इंस्पेक्टर की जेब में चले

गए। यह तो सौभाग्य की बात है कि वहां के सरपंच, पटवारी एवं बैंक के अधिकारी आदि सरकारी-असरकारी एजेंसिया भ्रष्ट नहीं है (जैसा कि सब जगह होता है) अन्यथा उनकी भेंट-पूजा होते-होते शायद पांच सौ, चार सौ रुपये तो पहले ही समाप्त हो जाते। खैर, उसे जो तीन हजार दो किशतों में मिले, वे कुआं खुदवाने के लिए मिले थे, पर मुझे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहां पर एक इंच भी जमीन नहीं खोदी गई है।

मैं इस धांधली पर बड़ा परेशान हुआ। मैंने पूछा, “इतनी सतर्कता के बावजूद सरकार के पैसे का दुरुपयोग कैसे हो जाता है?” मुझे बताया गया- उसका पहले का कुंआ खुदा हुआ है। कागज-पत्रों में उसी कुएं को खुदा हुआ दिखा दिया गया। कानूनी खाना-पूर्तियों की सारी जिम्मेदारी इंस्पेक्टर की होती है। सचमुच में यह कार्य इतना जटिल है कि यदि इंस्पेक्टर उसके लिए सौ-पचास रुपये लेता है तो कोई विशेष बात नहीं है, क्योंकि उस बेचारे को इन खाना-पूर्तियों के लिए जिन-जिन विभागों में हाजरियां देनी पड़ती है, उसकी कहानी वही जानता है। सब जगह लोगों का अपना-अपना कमीशन बंधा हुआ है, वहां यदि बीच में दलाल न हो तो किसी को एक पैसा भी नहीं मिल सकता। सरपंच आदि अन्य एजेंसियों से जानकारी की गई तो उन्होंने बड़ी स्पष्टता के साथ बताया कि उन्हें पता था कि यह पैसा कुएं की खुदायी में नहीं जा रहा है, पर फिर भी एक गरीब का इससे भला होता है तो उसमें उनका क्या जाता है। यही सोचकर उन्होंने बीच में कोई अवरोध पैदा नहीं किया।

अब उन तीन हजार रुपयों के उपयोग की बात पर आते हैं। अभी दो वर्ष पूर्व ही उसने अपने बाप का मृत्युभोज किया था, उसमें चार हजार रुपये खर्च हुए थे। उसने तीन हजार रुपयों को महाजन की भेंट चढ़ा दिया। महाजन उससे दो रुपये सैंकड़ा के हिसाब से ब्याज लेता था और सरकार उससे दस आना सैंकड़ा के हिसाब से ब्याज लेगी। अतः चमार को यह सीधा फायदा था। दस वर्ष की अवधि पर उसे दो सौ रुपये की सालाना किशत चुकाना है। इस लाभ से वह क्यों वंचित रहता? अब बात रही किशतें चुकाने की। निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि वह किशतें चुकाने के

लिए धन उपार्जित नहीं कर सकेगा, जो कुछ पैदा होगा वह शराब में खराब कर देगा।

अतः उसे फिर बनिये के पास जाना पड़ेगा। वह फिर उससे ऊंची ब्याज दर पर पैसे एंटेगा और इस प्रकार उसका शोषण का क्रम आगे से आगे चलता रहेगा। वह थोड़े बहुत चुकायेगा, तब तक फिर एकाध मृत्युभोज का अवसर आ जायेगा। फिर वह महाजन के दरवाजे खटखटायेगा और फिर मरते वक्त कर्जे का बोझा अपने बच्चों के सिर पर लादकर उन्हें भी विरासत में वही गरीबी बांट जाएगा। इस प्रकार अपने ही संस्कारों के जाल में फंसे करोड़ों गरीब तड़फड़ा रहे हैं। यदि उन्हें इस उलझन से बाहर निकालना है तो आवश्यक है कि उनके संस्कारों में परिवर्तन किया जाए। सरकार कानून तो बना सकती है पर जब तक वह ईमानदार न हो उस पर अमल नहीं करवा सकती।

आज भी मृत्युभोज का कानून बना हुआ है पर राजनैतिक सौदेबाजी के कारण इस पर अमल नहीं हो रहा है। इसलिए यदि सरकार वास्तव में ही गरीबों की भलाई करना चाहती है तो उसे सबसे पहले अपने आपको ही ईमानदार बनाना होगा। जब वह स्वयं ईमानदार होगी तो उसके द्वारा बांटा गया पैसा भी ठीक स्थान पर पहुंच सकेगा। आज तो गरीब के नाम पर जो पैसा ऊपर से प्राप्त होता है वह बेचारे गरीब तक पहुंचते-पहुंचते आधा ही नहीं रह जाता। ऊपर से नीचे तक खाने वाले बैठे हैं। फिर जो पैसा गरीब को मिलता है वह उसे शराब जैसे दुर्व्यसनों तथा मृत्युभोज जैसी कुप्रथाओं में समाप्त कर देता है। अतः इस दृष्टि से संस्कार-निर्माण का महत्व अपने-आप में असंदिग्ध है।

आर्थिक सहायता चाहे सौ बार की जाए, पर जब तक मनुष्य अपने जीवन को सही तरीके से जीना नहीं सीखें तब तक अर्थ उसे संकट से नहीं उबार सकेगा। यह कार्य अकेली सरकार नहीं कर सकती। इस दृष्टि से देश की सभी धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे इसको अपने हाथ में लें।

28. शिक्षा और संस्कृति

राजगढ़ के हमारे एक प्रबुद्ध श्रावक है। उनकी पौती एक मिशनरी स्कूल में पढ़ती है। एक दिन वह कहने लगी- दादा! मेरी फ्रेंड नाश्ते में रोज अंडे खाती है, मुझे क्यों नहीं देते हो? दादा एकदम झिझक गए। यद्यपि धीरे-धीरे यह झिझक भी खत्म हो रही है, पर फिर भी अभी कुछ लोग हैं जो अंडे का नाम सुनकर थोड़ी बेचैनी महसूस करते हैं। उन्होंने थोड़ा संभलकर उत्तर दिया- बेटा! हम लोग जैन हैं इसलिए अंडा नहीं खाते। पौत्री ने कहा-जैन है तो क्या हुआ? अंडा खाने में क्या हर्ज है? मेरी फ्रेंड भी रोज खाती है, उससे सेहत अच्छी रहती है। मैं भी अंडा खाऊंगी।

दादा-पौती का यह छोटा-सा संवाद है। एक ओर पौती इतनी प्यारी है कि दादा उसकी किसी फरमाइश को अधूरी नहीं रखना चाहते। पर दूसरी ओर आस्था है जो उन्हें एक कठोर निर्णय लेने के प्रति प्रेरित कर रही है। ऐसी घटनाएं आजकल आम बात हो गई हैं जो आए दिन होती रहती हैं। अनेक प्रौढ़ इस संगमरमरी मांग पर फिसल जाते हैं। माहौल ही ऐसा हो गया है कि आज मांसाहार के प्रति अशाकाहारी समाज में घृणा रही ही नहीं है। अंडा तो आज जैन परिवारों में भी अनेक रूपों में डाइनिंग टेबल तक पहुंचने लगा है। “सण्डे हो या मण्डे, रोज खाओ अण्डे” के टी. वी. के विज्ञापन ने तो इस कोढ़ में खाज की उक्ति को साकार कर दिया है। पर क्या किया जाए? आज एक तामसिक संस्कृति पूरी दुनियां में पनप रही है कि उससे अलग रह पाना कठिन हो गया है।

तो क्या इस डोर को ढीला छोड़ देना चाहिए कि पतंग जहां जाना चाहे जाए। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कोई भी समझदार आदमी यह आत्मघाती कदम नहीं उठाना चाहता। तब सवाल होता है बच्चों की शिक्षा

का क्या हो? अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा इस तरह दी जा रही है कि वह बच्चों के कैरियर को बना रही है। आज जितने आई. ए. एस. निकलते हैं उनमें अधिकांश अंग्रेजी स्कूलों में से निकलते हैं। मां बाप को उनके एटीकेट्स बड़े अच्छे लगते हैं। आजकल अंग्रेजी स्कूल में पढ़ाना एक फैशन हो गया है। गरीब से गरीब आदमी भी अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूल में पढ़ाना उसका हित समझता है, स्वयं गौरव महसूस करता है। पर आज आदमी यह भी महसूस करता है कि इससे सांस्कृतिक संकट गहराता जा रहा है। खोजों से यह भी पता चला है कि अंग्रेजी स्कूलों के आस-पास नशीली संस्कृति की नागफणियां भी बड़ी तेजी से फैल रही है।

पर सवाल तो यह है कि शिक्षा की एक तथाकथित प्रगतिशीलता की धारणा जो अंग्रेजी स्कूलों के साथ जुड़ गई है। उसका क्या विकल्प हो? सचमुच ऐसा लगता है इस मायने में अंग्रेजी मस्तिष्क बहुत उर्वर है। व्यवस्था के मामले में अंग्रेजों ने जो मापदण्ड खड़े कर दिये हैं उन्हें भारतीय मानस सैंकड़ों वर्षों में भी धूमिल नहीं कर पा रहा है।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कैसे इस समस्या से निपटा जाए। हमारे समाज में पहले तो यह चिन्तन ही नहीं था। पर ज्यों-ज्यों सम्पर्क, समझ और अनुभव बढ़ा तो आज उस दिशा में चिन्तन आगे बढ़ने लगा है। यह तो व्यवस्था का चिंतन है पर आज तो शिक्षा के स्वरूप पर भी चिंतन करना होगा।

पहले साधु-संत शिक्षा के बारे में कुछ नहीं कहते थे। वे समझते थे यह तो गृहस्थों का मामला है। साधुओं को इसमें नहीं उलझना चाहिए। पर आज जो परिस्थितियां बन रही हैं उनसे स्पष्ट हो गया है कि शिक्षा भी अध्यात्म का ही एक अंग है। यह सही है कि साधु व्यवस्था पक्ष में नहीं जुटें पर जहां तक शिक्षण पद्धति का सवाल है वहां तक तो उन्हें भी आगे आना ही होगा। यदि शिक्षा अध्यात्म से नहीं जुड़ी तो इसे आत्मघाती होने से नहीं रोका जा सकता। यह संभव नहीं है कि सब बच्चे साधु बन जाएं। पर यह तो आवश्यक है कि वे सच्चे गृहस्थ बनें। यह सारा आचरण से जुड़ा हुआ पक्ष है। यह सही है कि सामान्य आदमी के जीवन के साथ अर्थ का प्रश्न

जुड़ा हुआ है। हर अभिभावक चाहता है कि उसका बच्चा इतना बुद्धि संपन्न हो कि वह प्रभूत अर्थ का अर्जन कर सके।

यदि उपार्जन की क्षमता न बढ़ सके तो फिर पढ़ाने का उद्देश्य ही क्या हुआ? पर अर्थ की असीम लालसा के कारण आज आर्थिक अपराध इतने बढ़ गए हैं कि अर्थशास्त्र पर ही नये सिरे से सोचने का प्रसंग आ गया है। इन सब स्थितियों को जानकर गुरुदेव तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ ने जीवन विज्ञान के रूप में शिक्षा का एक नया आयाम खोला है।

आज शिक्षा के अनेक आयाम हैं। विश्वविद्यालयों में २०० से ४०० फेकल्टीज (विभाग) खुल गए हैं। पर चरित्र की शिक्षा का विभाग कहीं नहीं है। आज की पूरी शिक्षा जीविका के लिए समर्पित हैं, अर्थ के लिए समर्पित है। सारी दुनियां आज अर्थ की धूरी पर घूम रही है। पर एक बात स्पष्ट है कि आज जितने भी अपराध बढ़ रहे हैं, उनमें अर्थ का बहुत बड़ा हिस्सा है। बल्कि सारे अपराध आर्थिक से ही लगते हैं। रिश्वत, डकैती, चोरी, फिरोती, अपहरण, दहेज जैसे सारे दोष आर्थिक अपराधों की देन हैं।

आज की शिक्षा ने मनुष्य की क्षमता तो बढ़ाई है पर उसके चरित्र को कमजोर कर दिया है। उसके मस्तिष्क का दायां भाग तो विकसित हुआ है पर बायां भाग अविकसित रह गया है। मनुष्य के मस्तिष्क में अनंत संभावनाएं हैं। उन सब को जगाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। पर यदि उसका आधार चरित्र नहीं रहा तो वह स्वयं मनुष्य को निगलने लग जाएगी। बाकी कि सारी शिक्षाओं के साथ चरित्र की शिक्षा दूध में मिश्री की तरह घुल जानी चाहिए। आज सही शिक्षा के अभाव में मनुष्य में साम्प्रदायिकता का अभिनिवेश, मानवीय एकता के सम्बोध का अभाव पर्यावरण की चेतना का अभाव, अप्रामाणिकता आदि ऐसे अनेक तत्त्व प्रविष्ट हो गए हैं जिनसे सामाजिक जीवन विषमय हो गया है। इसीलिए आज शिक्षा में चरित्र, अहिंसा, अध्यात्म की इतनी आवश्यकता हो गई है कि उसके बिना बाकी की सारी उपलब्धियां शून्यवत् ही मानी जाएंगी।

एक शिक्षा तो अक्षर की होती है तथा दूसरी व्यवहार की। अक्षर की शिक्षा का अपना एक ढांचा है पर उसके साथ आसन, प्राणायाम, अनुप्रेक्षा आदि

के रूप में प्रायोगिक शिक्षा को भी इस तरह से जोड़ना पड़ेगा कि छात्र का मस्तिष्कीय, नाडीतन्त्रीय तथा स्नायविक विकास के रूप में उसका व्यवहारिक विकास भी हो सके। वह तनाव मुक्त हो सके। यदि छात्र जीवन में ही तनाव बना रहे तो आगे जाकर हम तनाव मुक्त मनुष्य की कल्पना कैसे कर सकेंगे? इसलिए आज शिक्षा को अध्यात्म के साथ जोड़ने की आवश्यकता है। जीवन-विज्ञान से बच्चों को तनाव मुक्त बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस शिक्षा में पुस्तकों का भार कम है। प्रयोग ज्यादा है। उनसे मनुष्य का भावात्मक विकास हो सकता है। वास्तव में यह एक ऐसी विद्या है जो नए मनुष्य को जन्म दे सकती है। इसी से हमारा समाज शिक्षा के सामने खड़ी नई चुनौतियों को झेल सकेगा और प्रगति की दौड़ में आगे बढ़ सकेगा।